आर्यभाषाओं के विकास-क्रम में
अपभ्रंश

[तथा अन्य निबन्ध]

लेखक
डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
रीडर, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर



दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर ग्वालियर १

प्रकाशक :

दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर ग्वालियर १

प्रथम सस्करण १९६४
द्वितीय संस्करण १९६६

मूल्य
७-५० पै०

मुद्रक

दी यूनाइटेड प्रिन्टर्स
जयपुर

विषय-सूची

: १ :

आर्य भाषाओं के विकास-क्रम में अपभ्रंश

प्राचीन आर्यभाषा के संस्कार के मूल में दो कारण काम कर रहे थे—प्रथम तो यह कि जैसे-जैसे आर्य फैलते गये उनकी भाषा में अन्तर पड़ता गया, इसलिए अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा और पारस्परिक संबंध और सहयोग स्थापित करने के लिये उन्होंने एक टकसाली भाषा बनाने का प्रयत्न किया जिससे सम्पूर्ण आर्यावर्त की एक ही शिष्ट भाषा बन सके; दूसरा कारण यह था कि उस समय भारत पर बाह्य आक्रमण होने लगे थे। आक्रमणकारी अपने साथ अपनी नवीन भाषा और संस्कृति लेकर आये थे। एक अन्य कारण यहाँ की अन्य अनार्य भाषाएँ भी थीं। द्राविड़, मुंडा आदि भाषाओं के शब्दों का आर्य भाषा में भी प्रचलन होने लगा था। यदि यह क्रम चलता रहता तो संस्कृत के रूप की शुद्धता का अक्षुण्ण रहना असंभव हो जाता। यही सोच कर अपनी भाषा की रक्षा और भाषा के द्वारा संस्कृति और एकता की रक्षा के लिये वैयाकरणों ने भाषा को व्याकरण से जकड़ कर अभेद्य बना दिया। ऐसा करके उन्होंने साहित्यिक भाषा की तो रक्षा कर ली, परन्तु लौकिक भाषा में यह आदान-प्रदान बराबर होता रहा। साहित्य भी इस प्रभाव से पूर्णरूप से अछूता न रह सका। विभिन्न स्थानों के आर्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाने लगे। कोई "क्षुद्रक" (छोटा) कहता था, तो कोई "क्षुल्लक", कोई "श्रवण" कहता था तो कोई "श्रोण"। एक "ड" भिन्न-भिन्न स्थलों में ल, क, ढ़, ल्ह सभी बोला जाता था।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि उस समय भाषा के दो रूप बन गये। पाणिनि के व्याकरण द्वारा अनुशासित भाषा 'संस्कृत' कहलाई और इसके समानान्तर ही एक दूसरी भाषा भी चलती रही जिसे जनसाधारण की भाषा कहा जाता था। इन दोनों भाषाओं का उद्गम वैदिक भाषा से ही हुआ। पाणिनि द्वारा जिस भाषा का संस्कार किया गया। वह पहले तो 'संस्कृता वाक्' कहलाई, परन्तु कालान्तर में केवल संस्कृत कहलाने लगी। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का कहना है कि "साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगों की कुछ बोलियाँ भी अवश्य थीं, इसके प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। पतञ्जलि के समय में व्याकरण शास्त्र जानने वाले केवल विद्वान् ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे तथा साधारण लोग 'प्राकृत भाषा' (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।"[1] अतः जनसाधारण की बोली जो वैदिक काल के अधिक समीप थी 'प्राकृत' कहलाने लगी। भाषा के इन दो रूपों का प्रमाण

१. डा० श्यामसुन्दरदास, हि० भा० का इतिहास

वाल्मीकीय रामायण से भी मिलता है। "हनुमान जब अशोक-वाटिका में सीताजी के पास गये तो इस पशोपेश मे पड गये कि "द्विजी" भाषा में बोलू या मानुषी भाषा में। द्विजी भाषा विद्वानो की भाषा थी जिसे संस्कृत कहा जाता है और "मानुषी" भाषा जनसाधारण की थी जिसे प्राकृत कहा जाता है। अन्त मे उन्होंने मानुषी भाषा में ही बातचीत की।"[१]

भाषा के इन दो रूपों के विषय मे डा० श्यामसुन्दरदास भी आश्वस्त है—"वेदकालीन कथित भाषा से ही संस्कृत भी उत्पन्न हुई और अनार्यों के सम्पर्क से अन्य प्रान्तीय बोलियां भी विकसित हुईं। संस्कृत ने केवल चुने हुए प्रचुर प्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भंडार भरा, पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति-स्वच्छन्दता को भरपेट अपनाया। यही उनके प्राकृत (स्वाभाविक या अकृत्रिम) कहलाने का कारण है; यही उनमे वैदिक भाषा की उन विशेषताओं के उपलब्ध होने का रहस्य है जो संस्कृत मे कही देख नहीं पड़ती।"

इस प्रकार संस्कृत भाषा व्याकरण से सुरक्षित होकर व्यापक और शिष्ट समाज की भाषा बन गई। संस्कृत यह काम कई शताब्दियों तक करती रही, परन्तु जब मगध मे मौर्यों का प्रभाव बढा तो इस पूर्वी प्रदेश की बोली ने, जो वैदिक भाषा से भी कुछ अंशों मे भिन्न रही थी, सिर उठाया। परन्तु मौर्यों के उपरान्त पुनः संस्कृत का प्रभुत्व बढा। उसके पश्चात् बहुत समय तक यह भारत की प्रादेशिक भाषाओं को प्रभावित करती हुई सर्वव्यापक रही। इसकी रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया गया। संस्कृत साहित्य की रक्षा के लिए प्राचीन युग मे जो युक्तियां काम मे लाई गईं, वे सभ्य ससार के इतिहास में अद्वितीय हैं। श्रुति की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम उपायो का सहारा लिया गया। भाव-गरिमा की रक्षा सूत्र-शैली से की गई। इससे भाषा का स्वरूप रक्षित रहा। बहुत समय तक संस्कृत का स्थान सर्वव्यापक रहा, परन्तु कालान्तर मे वह राष्ट्रीय से साम्प्रदायिक बन गई। इसके कारण निम्नलिखित थे:—

(१) वह जनसाधारण के लिए अत्यन्त क्लिष्ट थी। उसके व्याकरणिक नियम ही इसके कारण थे।

(२) आर्य जैसे-जैसे फैलते गये उनका सम्पर्क दूसरे भाषा-भाषियो से होता गया। उन्होंने भी काल-धर्म को स्वीकार कर इन नवीन भाषाओं से आदान-प्रदान प्रारंभ कर दिया।

(३) महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों का प्रचार जनसाधारण की बोलियों मे किया, जिससे अर्द्धमागधी और मागधी बोलियाँ धर्म का आश्रय पाकर संस्कृत की बराबरी करने लगीं। बोलियों का यह भेद प्राचीन काल में भी था—एक पूर्व प्रदेश में पूर्वागत आर्यों की बोली और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्य-देश' मे नवागत आर्यों की बोली। गौतम बुद्ध ने ब्राह्मण-धर्म के विरोध मे ही संस्कृत का विरोध किया था।

---

१. चन्द्रबली पांडेय, भाषा का प्रश्न

(४) इस नये धर्म के प्रभाव से बचने के लिये संस्कृत को और भी जटिल बना कर एक साम्प्रदायिक भाषा का रूप दे दिया गया। अतः उसका व्यापक प्रभाव कम हो गया।

इतना होने पर भी संस्कृत बहुत समय तक विद्वानों की भाषा बनी रही। संस्कृत साहित्य संसार का सबसे समृद्ध और उन्नत साहित्य माना जाता है। भारत में आज भी उसका प्रचार है। वह सदा से ही भारत की अन्य भाषाओं को प्रभावित कर समृद्ध बनाती रही है।

प्राचीन वैदिक भाषा और संस्कृत भाषा के रूप की तुलना कर लेने से यह प्रकट हो जाता है कि

(१) प्राचीन भाषा की अपेक्षा उत्तरवर्ती भाषा में स्वरों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।
(२ ऌ का प्रयोग बहुत सीमित हो गया है।
(३) च-वर्ग और ट-वर्ग ध्वनियों का विकास हुआ है।
(४) तीन क-वर्ग के स्थान पर एक ही क-वर्ग रह गया है।
(५) स्पर्शों में प्रत्येक वर्ग में एक-एक अनुनासिक और बना लिये गये हैं।
(६) उदासीन स्वर भी लुप्त हो गया है। उसके स्थान पर 'इ' का प्रयोग होने लगा है।
(७) दो नई ऊष्म ध्वनियाँ आ गई हैं—श और स।
(८) ह-ध्वनि का भी प्रयोग होने लगा है।

प्राचीन भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो उत्तरवर्ती भाषा में नहीं मिलतीं—

(१) ऐ और औ का उच्चारण क्रम से 'आइ' और 'आउ' था।
(२) शब्दों में धातु का अर्थ अपरिवर्तनीय था। बाद में होने लगा।
(३) स्वराघात संगीतात्मक था, परन्तु बाद में समाप्त हो गया।
(४) आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग थे।
(५) रूप-रचना जटिल थी। बाद में नियमित और सरल होगई।
(६) वाक्य में शब्द का स्थान और क्रम निश्चित नहीं था।
(७) उपसर्ग मूल शब्द से पृथक् कहीं भी रक्खे जा सकते थे।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त वैदिक भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो परवर्ती संस्कृत मे न मिल कर केवल प्राकृत में मिलती हैं।

(१) प्राकृत में व्यंजनान्त शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं होता। संस्कृत के व्यंजनान्त शब्द का अन्तिम व्यंजन प्राकृत में लुप्त हो जाता है—जैसे, संस्कृत 'तावत्' प्राकृत में 'ताव' हो जाता है। वैदिक भाषा में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, जैसे 'पश्चात्' और 'पश्चा'। पर संस्कृत में इस प्रकार व्यंजन का लोप नहीं होता।

(२) प्राकृत में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते है। जैसे, कर्तव्य=कातव्य, निश्वास=नीसास। वैदिक भाषा मे भी ऐसा होता है; जैसे दुर्दभ=दूडभ, दुर्णाश=दूणाश।

(३) स्वरभक्ति का प्रयोग दोनो भाषाओं मे प्रचुरता से होता है। जैसे, प्राकृत—स्व=सुव। वैदिक—तन्व=तनुव।

(४) दोनो मे ही पदगत किसी वर्ण का लोप कर उसे फिर संकुचित कर दिया जाता है। जैसे—राजकुल=(प्राकृत) राउल, शतक्रत्वः=(वैदिक) शतक्रत्व।

(५) शौरसेनी प्राकृत मे अकारान्त शब्द प्रथमा के एकवचन मे 'ओकारान्त' हो जाता है। जैसे देवः=शौरसेनी—देवो। सः चित्=(वैदिक) सो चित्।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि "प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतो की उत्पत्ति हुई, अर्वाचीन संस्कृत मे नही। यद्यपि लोगो ने समय-समय पर प्राकृत को नियमित और आबद्ध करने का प्रयत्न किया तथापि बोलचाल की उस भाषा का प्रवाह किसी-न-किसी रूप मे चलता रहा, उसमे कोई रुकावट न हो सकी। यही 'प्राकृत' अथवा बोलचाल की आर्य भाषा क्रमश: आधुनिक भारतीय देशभाषाओ के रूप मे प्रकट हुई।

मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं का समय ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक (कुछ लोग १२०० ई० तक मानते हैं) माना गया है। इस काल मे संस्कृत का पराभव होकर प्राकृत का प्रभाव और प्रसार हुआ। संस्कृत के प्राचीन युग मे प्राकृत जनसाधारण की भाषा थी। इसी कारण उसमें साहित्य की रचना नही हुई। प्राचीन उल्लेखो में उसका प्रयोग कहीं-कहीं अशिष्ट भाषा के रूप में ही मिलता है। परन्तु यह भाषा जनता का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर विकसित होती गई, किन्तु अपने विकास-क्रम में इसने अपनी माता वैदिक भाषा से सदैव निकट सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। मध्ययुग मे आकर इस भाषा ने क्रमशः साहित्यिक रूप धारण किया और इसका विकास तीव्र गति से हुआ। अपने १५०० या उससे भी अधिक वर्षों के जीवन के इसके रूपों मे तीन प्रमुख परिवर्तन हुए। इनमे से पहला रूप पाली, दूसरा रूप साहित्यिक प्राकृत तथा तीसरा रूप अपभ्रंश कहलाया। कुछ विद्वान् इन रूपो को क्रमशः प्रथम प्राकृत, द्वितीय प्राकृत और तृतीय प्राकृत भी कहते हैं। समष्टिरूप से हम मध्ययुग को "प्राकृत युग" के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। प्राकृत युग कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की भाषा के तीनो रूप संस्कृत से उत्पन्न न होकर वैदिक भाषा की परम्परा मे ही रहे। उन्होंने संस्कृत से प्रेरणा लेकर उसके शब्दभंडार का उपयोग तो किया, परन्तु अपनी प्रकृति को अक्षुण्ण रक्खा। हिन्दी इस परम्परा की अन्तिम कड़ी है।

प्राकृत के उपर्युक्त तीनो रूपो के आधार पर मध्ययुग को तीन कालो में विभाजित किया गया है.—

(१) आदिकाल—प्रथम प्राकृत या पाली (५०० ई० पूर्व से १ ई० पूर्व)।

१. श्यामसुन्दरदास, हिन्दी भाषा का इतिहास

(२) मध्यकाल—साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ अथवा दूसरी प्राकृत (१ ई० से ५०० ई० तक)।

(३) उत्तरकाल—तीसरी प्राकृत अथवा अपभ्रंश (५०० ई० से १००० ई० तक)। कुछ विद्वान् स्थूल रूप से अपभ्रंश का समय ईसा की दूसरी शताब्दी से १३वीं शताब्दी के अन्त तक मानते हैं।

बोलचाल की भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध रूप हमें अशोक के शिलालेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में मिलता है। इस काल में भी बोली-भेद था। इन धर्म-लिपियों की भाषा से यह स्पष्ट होता है कि उस समय उत्तर भारत में बोली के तीन भिन्न-भिन्न रूप थे—पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। दक्षिणी रूप का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु धर्म-लिपियों की भाषा को देखने से यह नहीं प्रतीत होता कि वह किसी भी बोली का प्रथम साहित्यिक रूप है। इस विषय में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि—'मध्यकाल के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले-पहल अशोक की धर्म-लिपियों में पाये जाते हैं। यहाँ यह प्राकृत प्रारंभिक अवस्था में नहीं है, किन्तु पूर्ण विकसित रूप में है।'' इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह भाषा पहले ही साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुकी थी। पाली ही उसका प्रथम साहित्यिक रूप नहीं था। परन्तु उस पहले रूप के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।'' इस भाषा को जब बौद्ध मत के प्रभाव से साहित्यिक और धार्मिक रूप प्राप्त हुआ तो यह 'पाली' कहलाने लगी। पाली शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'पंक्ति' शब्द से मानी जाती है। पहले त्रिपिटक की मूल पंक्तियों के लिये इसका प्रयोग होता था। पंक्ति से पंत्ति=पत्ती=पट्टी=पाटी=पाली यह रूप हुआ। इस पाली को पंत्ति, मागधी या मागधी निरुक्ति भी कहते थे। बौद्ध पाली को ही आदि भाषा मानते थे। उनका कथन है कि "आदि कल्प में उत्पन्न मनुष्य-गण, ब्रह्मगण, संबुद्धगण एवं वे व्यक्तिगण जिन्होंने कभी कोई शब्दालाप नहीं सुना जिसके द्वारा भाव-प्रकाशन किया करते थे, वही मागधी भाषा मूल भाषा है।'' बौद्धों का यह आग्रह धार्मिक आग्रह-मात्र है। सभी धर्म के अनुयायी अपने धर्म-ग्रन्थों की भाषा को ही मूल भाषा मानते आये हैं।

पालिभाषा की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जिस भाषा को पाली नाम से अभिहित किया जाता है वह अपने मूल रूप में बौद्धों की भाषा ही नहीं थी, अपितु शौरसेनी प्राकृत की भाँति मध्यदेशीय भाषा थी जो देश के अन्य भू-भागों में भी प्रचलित थी। उसकी कड़ी को वैदिककालीन बोली की शृंखला से वियुक्त नहीं किया जा सकता। हमें यहाँ यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिये कि पाली* नाम की भाँति ही यह भाषा बहुत बाद की है।

जो परिवर्तन मध्य से 'मा' या 'मे' में अथवा कार से 'आर' में हुआ है, उसी परिवर्तन की परम्परा में पाली के विकास का इतिहास निहित है। इसको पारिभाषिक शब्दावली में 'ध्वनिविकार' कहते हैं। यद्यपि इसको सामाजिक भाषा में 'भ्रंश' भी कहते हैं किन्तु यह वह

* देखिये, [illegible] पालिभाषा और साहित्य

माध्यम है जिससे भाषा का विकास होता है। समस्त शब्द एक ही शब्द के रूप में विकसित हो जाते हैं। इसमें रूप तो बदल ही जाता है, मौलिक अर्थ भी भुला दिया जाता है। इसी परिस्थिति में ध्वनि-विकार की सम्भावना होती है। ध्वनि-विकार से पद का उत्तरांश केवल अन्त्य प्रत्यय के रूप में बदल जाता है और इसी प्रकार भाषा में संयोगात्मक स्थिति उत्पन्न होती है। सभी मृत आर्य भाषाएँ, और अधिकांश जीवित भाषाएँ भी संयोगात्मक स्थिति में हैं।

जो बोली समाज में अपना कोई पद नहीं बना लेती है, वह अशिष्ट कहलाती है। भाषा में जब साहित्य की सर्जना हो जाती है तो उसकी भ्रंश की प्रवृत्ति घट जाती है। कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो अपनी भाषा के संबंध में सतर्क होती हैं और वे उसे अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध दशा में सुरक्षित रखती हैं, किन्तु कुछ जातियाँ अपनी भाषा के संबंध में लापरवाह रहती हैं जिससे उनकी भाषा अधिक भ्रष्ट हो जाती है। भाषा के बदलने या बिगड़ने का एक और भी कारण है और वह यह कि जब एक जाति दूसरी जाति से सम्पृक्त हो जाती है तो उसकी भाषा भी अशुद्ध हो जाती है। दूसरी जाति के लोग दूसरी भाषा के उच्चारणों को सही रूप में पकड़ नहीं पाते हैं और उच्चारण अवयव भी कुछ-न-कुछ भिन्नता रखते हैं, इसलिए एक जाति जब दूसरी जाति की भाषा को या मिलावट को स्वीकार करती है तो मौलिक शुद्धता बाधित हुए बिना नहीं रह सकती। परिवर्तन की यही प्रक्रिया पालिभाषा के विकास की गवेषणा में सहायक हो सकती है।

व्याकरण के बन्धन में बँधी हुई संस्कृत भाषा अजर-अमर हो गई, किन्तु उसका वंश नहीं चला। हाँ, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गईं और उसने भी समय समय पर इनकी भेंट स्वीकार की। वेद और छंदस् की भाषा का जितना साम्य पुरानी प्राकृत से है, उतना संस्कृत से नहीं।

"वैदिक (छन्दस् भी भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया। कई उदाहरण हैं— (१) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल देवाः रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्')का वंश 'आओ' आदि में चला,(२) देवैः की जगह 'देवेभिः' (अवरेहि) कहने की स्वतन्त्रता प्राकृत को विरासत में मिली, संस्कृत को नहीं"[1]

अकृत्रिम भाषा में (१) छंदस् की भाषा (२) अशोक की धर्म-लिपियों की भाषा, (३) बौद्ध ग्रन्थों की पाली, (४) जैन सूत्रों की मागधी (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) प्राकृत शिलालेखों की अनिर्दिष्ट प्राकृत ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्द्धमागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश-भेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छाँट की।

बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक आधारित रही है। सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी ही है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें ध्यान रखने की हैं—(१) एक तो यह जिसने व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा, (२) दूसरी बात यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिये। वह

[1] गुलेरीजी 'पुरानी हिन्दी

नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है। पुराने काल की प्राकृत-रचना देश-भेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में। शौरसनो, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देश-भेद मात्र रह गईं। मागधी, अर्द्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रह कर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई। वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है।

जो हो, देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत, साहित्य की प्राकृत, एक थी। जो पद पहले मागधी का था, वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्तिरत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कद्र की थी। हाल (सातवाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की सतसई बनाई, प्रवरसेन ने सेतुवध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसी में गौडवध किया, किन्तु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्म-भाषा मान कर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है।

और छन्दों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' छन्द छन्दो का राजा है, वैसे ही प्राकृत की रानी 'गाथा' है। लम्बे छन्द प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाईं स्पष्ट दीख पड़ी। एक समय ऐसा आया जब प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ और यह कहा गया कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है। राजशेखर ने तो प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला :—

"परुसा सक्कअ बन्धा पाउअबन्धो विहोइ सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेन्ति यमिहन्तरं तेत्तिय मिमाणं ॥"

शौरसेनी और पैशाची—शौरसेनी और पैशाची मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थी और व्याकरणों में इनका विवेचन गौण या अनुवाद रूप से ही किया गया है; फिर भी हिन्दी भाषा से इनका गहन सम्बन्ध है। शौरसेनी शूरसेन प्रदेश की भाषा थी, जिसे आज व्रजमंडल आदि के नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि इस भाषा में किसी बड़े स्वतंत्र ग्रंथ की रचना नहीं हुई अथवा उपलब्ध नहीं है, फिर भी इसका क्षेत्र वही है जो व्रजभाषा, खड़ी बोली और रेखता की प्राकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी भाषा में है। वह कथा अब नहीं मिलती। हाँ, क्षेमेन्द्र और सोमदेव नाम के दो काश्मीरी पंडितों के द्वारा किये हुए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं। उनमें से पहली रचना का नाम 'बृहत्कथा-मंजरी' और दूसरी का 'कथासरित्सागर' है।

पैशाची पिशाच या पिशाश देश की भाषा थी। कुछ लोग कश्मीर के उत्तरी प्रांत को पिशाच देश बतलाते हैं, किन्तु एक दूसरे मत से पैशाची का स्थान राजपूताना और मध्यभारत माना गया है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत व्याकरण में 'बृहत्कथा' को 'केकय पैशाची' में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। सम्भव है मध्यभारत की भूतभाषा की मूल

बृहत्कथा का कोई रूपान्तर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं।

राजशेखर ने (विक्रम दसवीं शती) अपने ग्रंथ काव्य-मीमांसा में किसी प्राचीन श्लोक का उद्धरण देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि 'गौड' (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाट-देशियों की रुचि प्राकृत में है। मरु-भूमि, टक्क (टाक) दक्षिणी पश्चिमी पंजाब, और भादानक (राजपूताने के अन्तर्गत ही कोई स्थान या प्रांत) के वासी अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चम्बल का निकास) और दशपुर (मन्दसौर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं। जो कवि मध्य-देश में (कन्नौज, अन्तर्वेद, पांचाल आदि में) रहता है, वह सब भाषाओं में स्थित है। भाषा से सम्बन्धित राजा के कवि समाज का निवेश बहुत चमत्कार प्रदर्शन करता है। कवि कहता है कि राजा कवि समाज में बैठा—उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर और पांचाल) पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मगध), पश्चिम को अपभ्रंश दक्षिणी पंजाब और मरुदेश और दक्षिण को भूतभाषा (उज्जैन, मालवा आदि) के कवि बैठे।

इससे यह स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक का देश अन्तर्वेद, पांचाल और शूरसेन देश, मरु, अवन्ती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे।

अपभ्रंश—"बाँध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं, उनमें देशी की धाराएँ भी आकर मिल गईं, देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है, या वह पानी है जो नदी-मार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता जा रहा था। पानी बढ़ने में नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई। उसका अपभ्रंश होने लगा।"

राजशेखर ने संस्कृत-वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है। उसने काव्य-पुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघनस्थल, पैशाची को पैर और मिश्र को उरु कहा है।

देशभाषा और साहित्यिक भाषा नाम से अपभ्रंश के दो भेदों का उल्लेख संस्कृत के प्राचीन नाटकों तथा कविताओं में मिलता है। नाटकों में सामाजिक व्यवहारों का प्रदर्शन होता है। इसमें उस समय की देशभाषा के प्रचलित मुहावरों का नाटक में समावेश हो जाना स्वाभाविक है।

अपभ्रंश शब्द का अर्थ है बहुत नीचे गिरना और अपभ्रंश से तात्पर्य उस भाषा से जोड़ा गया जो बहुत नीचे गिरी हुई मानी गई। भाषा को यह नाम किसने दिया? किन्तु अनुमानतः यह नाम ब्राह्मणों का दिया हुआ है। ब्राह्मणों ने ब्राह्मणेतर वर्णों की तथा सामान्य लोक में प्रचलित भाषा को अपभ्रंश नाम देकर लोकभाषा का तिरस्कार ही किया है।

इसका एक प्रमाण यह है कि जिस वर्ग या वर्ण ने संस्कृत को देव-भाषा संज्ञा प्रदान की, उसी ने लोक-भाषा को 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' संज्ञा प्रदान की और यह काम ब्राह्मणों के सिवा दूसरों का नहीं है।

यदि लोक-भाषा पतित या गिरी हुई होती है तो क्या वेद-भाषा लोक-भाषा नहीं थी ? जिसको पाणिनि ने शिष्ट भाषा कहा है उससे वेद-भाषा भिन्न है। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि वेदों की भाषा उस समय की लोकभाषा है—लोक की प्रकृति-सिद्ध या स्वाभाविक भाषा है और जो भाषा प्रकृतिसिद्ध हो उसे पतित या नीच कैसे कहा जा सकता है। अनेक प्राकृतों और वेदों की भाषा में गहन संबंध है। प्राकृतों का जितना सम्बन्ध वैदिक भाषा से दृष्टिगोचर होता है, उतना पाणिनि की शिष्ट भाषा से नहीं प्रतीत होता है। वैदिक और प्राकृत भाषाओं की क्रियाओं में अति निकट साम्य मिलता है। अतएव यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वेदों में मिलने वाली लौकिक भाषा को तो 'आर्ष' कह कर पवित्र बतलाया जाए और लोक-प्रचलित भाषाओं को भ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया जाए।

कहने का तात्पर्य यह है कि लोक-भाषा को अपभ्रंश नाम ब्राह्मणों के मुख से ही मिला। जिस प्रकार कभी वेदों की भाषा लोक-भाषा रूप में प्रचलित थी उसी प्रकार अपभ्रंश कही जाने वाली भाषा भी कभी समस्त भारत में प्रचलित थी। ब्राह्मणों ने केवल यही नहीं कहा कि लोक-भाषा 'अपभ्रंश' है, वरन् यह भी कहा कि जो शास्त्र इस लोक-भाषा में रचित हैं वे प्रमाणित नहीं हैं, चाहे उनमें अहिंसादि तत्त्वों की मीमांसा क्यों न की गई हो। जिस प्रकार कुत्ते के चमड़े की कोथली में भरा गाय का दूध भ्रष्ट होता है, वह ग्रहणीय नहीं होता उसी प्रकार भ्रष्ट भाषा में निरूपित तत्त्व-ज्ञान भी ग्राह्य नहीं है—

"सन्मूलम्—अपि अहिंसादि श्वदृतिनिक्षिप्त क्षीरवत् अनुपयोगि अविश्रम्भणीय च।"

प्राचीन भाषा के पक्षपाती पंडितों ने 'अपभ्रंश' शब्द के प्रयोग से भाषा में जो खोट निकाल कर उसे तिरस्कृत किया है उसके लिए उसमें कोई गुंजाइश नहीं है। प्राचीन पंडितों ने अपभ्रंश में जिस भ्रष्ट उच्चारण का खोट निकाला था; वास्तव में खोट नहीं है वह तो लोक-भाषा की प्रकृति है जिसके आधार पर लोकभाषा, साधारण भाषा, जनपद भाषा, देशी भाषा या प्राकृत भाषा नाम दिया जाना चाहिए था। जिस प्रकार गोरे लोगों ने हमारी भाषा को वर्नाक्यूलर नाम से अभिहित किया था उसी प्रकार उस समय के जातिवादी ब्राह्मणों ने साधारण जनभाषा को—लोकभाषा को—अपभ्रंश कहा था। फिर भी वाक्पति राजशेखर आदि वैदिक ब्राह्मणों ने प्राकृत भाषा की बड़ी प्रशंसा की है—'प्राकृत भाषा भाषा-मात्र की—शुद्ध संस्कृत तक की—जननी है।" यह कह कर उन्होंने प्राकृत भाषा का गुणानुवाद किया है। इतना ही नहीं वरन् उन्होंने इस भाषा में सेतुबंध, कर्पूरमंजरी जैसे ग्रन्थों की रचना करके प्राकृत भाषा के उत्कर्ष को ही दिखलाया है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मागधी और शौरसेनी शब्द प्रदेश-विशेष की भाषा के बोधक हैं और पैशाची शब्द जाति-विशेष की भाषा का ज्ञापक है। 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग

देश-विशेष या जाति-विशेष की भाषा के लिए नहीं हुआ, बल्कि वैदिक और लौकिक संस्कृत का भ्रष्ट रूप, आर्ष प्राकृत या साधारण प्राकृत का भ्रष्ट रूप, मागधी का भ्रष्ट रूप, शौरसेनी का भ्रष्ट रूप अथवा भाषाओं का भ्रष्ट रूप—अपभ्रंश के भाव में समाविष्ट हो जाता है।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा का व्यापक अर्थ है, उसी प्रकार अपभ्रंश शब्द का भाव व्यापक है। यह एक विशिष्ट भाषा के अर्थ का द्योतक है। जिस भाषा की सूचना अपभ्रंश शब्द देता है। वह कब उत्पन्न हुई थी, यह कहना असम्भव है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखने से अपभ्रंश भाषा अपना जन्म सम्बन्ध वैदिक युग की आदिम प्राकृत के साथ रखती है। वैदिक युग में जो भाषा बोल-चाल में प्रचलित थी, वह आदिम प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध है। आदिम प्राकृत के बोलने वाले आर्यों अथवा उनके सम्पर्क में आने वाले आदिम लोक का उच्चारण एक-सरीखा नहीं था। आशय यह है कि उच्चार्यमाण आदिम प्राकृत का जो उच्चारण-विशेष भ्रंश को प्राप्त हुआ उसका एक समग्र नाम अपभ्रंश नाम से अभिहित किया जा सकता है। याद रखने की बात है कि आदिम प्राकृत के भ्रष्ट उच्चारण का सूचक अपभ्रंश शब्द भाषा-विशेष का सूचक न था। फिर भी विशेष भाषा-रूप अपभ्रंश का बीज उस भ्रष्ट उच्चारण में निहित है, इसमें संदेह नहीं है।

अपभ्रंश शब्द का सबसे पहला उपलब्ध प्रयोग पतंजलि के 'महाभाष्य' में मिलता है। वहाँ अपभ्रंश शब्द केवल अशुद्ध या विकृत उच्चारण का सूचक है। वे कहते हैं कि अशक्ति से किसी प्रकार ब्राह्मणी द्वारा 'ऋतक' के स्थान पर 'लृतक' प्रयुक्त हुआ। ब्राह्मणी का यह 'लृतक' उच्चारण भ्रष्ट है। इस प्रकार उनके समीप गँवारों (ग्राम्य-जनों) के उच्चारण—असामर्थ्य के कारण बिगड़े हुए संस्कृत शब्द ही अपभ्रंश हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक शब्द के अनेक विकृत रूप हो गये हैं, जैसे—'गो' के 'गऊ' 'गवी' गोता, 'गोपोतलिका' गोणि आदि हो गये हैं। इस दृष्टि से अपभ्रंश का अर्थ केवल विकार, विभ्रंश या विभ्रष्ट होता है जो भरत ने भी माना है।

अपभ्रंश का विशेष अर्थ

धीरे-धीरे किसी एक भाषा के प्राबल्य के बढ़ने से वही भाषा सर्वसाधारण की लोक-भाषा बन गई। वैदिक या लौकिक संस्कृत में पहले पहल 'अपभ्रंश' का प्रयोग साधारण या यौगिक अर्थ में ही होता था। रूढ़ प्रयोग तो बहुत बाद में हुआ है।

विशेष भाषा के अर्थ में 'अपभ्रंश' का प्रयोग

(१) भरत के नाट्यशास्त्र में जिसकी रचना विक्रम की छठी शती से पूर्व मानी जाती है, १७ वें अध्याय में अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा,, योन्यन्तरी भाषा, भाषा, विभाषा आदि अनेक सामान्य पदों द्वारा अनेक भाषाओं की महिमा प्रतिष्ठित की गई है। इसके उपरान्त मागधी, अवन्तिजा, प्राच्य-भाषा-शौरसैनी, अर्द्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या इन सात भाषाओं को भाषा नाम से अभिहित किया गया है तथा बनेचरी भाषा को विभाषा के नाम से अभिहित किया गया है। शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्र आदि की भाषाओं को (शकारी, चाण्डाली, आभीरी, शाबरी, द्रामिली या द्रामिडी तथा आन्ध्र) विभाषाओं में गिनाया गया है।

संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते ।
अतिभापा आर्यभापा च जातिभापा तथैव च ॥२७॥
तथा योन्यन्तरी चैव भापा नाट्ये प्रकीर्तिता ॥२८॥
मागधी—अवन्तिजा प्राच्या शौरसेनी—अर्धमागधी ।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभापाः प्रकीर्तिताः ॥४६॥
शकार-आभीर-चण्डाल-शवर-द्रमिल-अन्ध्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभापा नाटके स्मृता ॥५०॥

भरत द्वारा प्रयुक्त 'भापा' शब्द की टीका करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—'भापा-संस्कृतापभ्रंशः अर्थात् जो संस्कृत का अपभ्रंश है वह भापा है और भापापभ्रशंस्तु विभापा अर्थात् भापा का अपभ्रंश विभापा है। यहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द महाभाष्य-कार द्वारा प्रयुक्त 'अपभ्रंश' शब्द के समान ही यौगिक है। श्री के. एम. मुंशी 'गुजराती भापानी उत्क्रान्ति' (पृ० १६०) में दूसरे अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द को रूढ़ार्थ-द्योतक बतलाते हैं।

प्रतीत तो ऐसा भी होता है कि भरत मुनि ने ही अपभ्रंश शब्द का प्रयोग रूढ़ार्थ में किया है, किन्तु विभापा के साथ जिस 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है, वह यौगिक अर्थ का ही सूचक है। भरत मुनि[१] ने इसी प्रसंग में आभीरोक्ति शब्द का प्रयोग भी किया है। महाकवि दण्डी के "आभीरादिग्रहः[२] काव्येष्वपभ्रंशः" वाक्य में आभीर-ग्रह का अर्थ भरत मुनि की आभीरोक्ति से मिलता है जो अपभ्रंश के रूढार्थ का ही द्योतन करता है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में "मोरुल्लउ णच्चंतउ ।" महाग ने संभतउ (अ० ३२.६६) "मेह उदूतं, नहं जोण्हउं । णिच्च णिप्पहे एहु, चंदउ ।" (अ० ३२.७४) "एसा हंसवधू हित्था काणणउ । गंतुं, जस्सु (असु) इया कंतं संगइया ।" (अ० ३२.६६)"पिय वाइ वायतुं सुअसंत-काल । पिय कामुको पिय मदअ जणंतउ (अ० ३२.१०८) और "वयादि वाद्दो एह पवाही रुसिद इव (अ० ३२.१६६)

ये पाँचों भापा के उदाहरण हैं। इनमें से 'उ' प्रत्यय वाले पद और हेमचन्द्रोक्त[३] अपभ्रंश में आये हुए स्वार्थिक 'दुल्लअ' जिनमें लगता है, उन पदों जैसे होने से भरत के नाट्य-शास्त्र में अपभ्रंश के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। डा० गुणे[४] ने भी इन पद्यों में अपभ्रंश का रंग माना है।

---

१. दण्डी काव्यादर्श १.३६
२. भरत मुनि-नाट्यशास्त्र (निर्णयसागर प्रेस)
३. हेमचन्द्र ८.४.४२६ (हैं अपभ्रंश-प्रकरण) "अ-ड ड-डुल्ला : स्वार्थिक 'क' लुकच्"
४. देखिए, भविसयत्तकहा की प्रस्तावना. पृ०-५०-५१

उपर्युक्त भरत मुनि से सम्बन्धित विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। १—उनके समय मे देशभाषा का प्रचलन था, जो संस्कृत और प्राकृत से भिन्न केवल प्रांतो की बोल चाल की भाषा थी।

२—उनके समय मे सात भाषाएँ मानी जाती थी—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाह्लीका, दाक्षिणात्या। ये उस समय की साहित्यिक भाषाएँ थी और बोलचाल की भाषाओ को विभाषा कहते थे जिनमें शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्रामिल या द्राविड प्रमुख थी। ये भाषाएँ हीन वर्ग या चरवाहा जाति के लोगो की बोलियाँ थी।

३—चरवाहा आदि जातियो की भाषा का नाम आभीरी पडा और धीरे-धीरे उसने विशेष नाम तथा प्राकृत की साहित्यिक भाषाओ मे विशेष स्थान प्राप्त कर लिया।

४—भरत के समय मे अपभ्रंश को लोग जानने लग गए थे, यद्यपि वह उस समय अपनी प्रारम्भिक तथा विकासात्मक अवस्था में ही थी।

५—भरत ने 'उकार' को अपभ्रंश की मुख्य व्यापक विशेषता बतलाया है और उसने उसका प्रचार सिंध, सौवीर और पंजाब मे बतलाया है। यही वह देश था जहाँ अपने गाय, घोडे ऊँट आदि पशुओ को लेकर ग्वाले लोग पहले-पहल आकर बसे थे। विशेषत. ऊँट वालो के लिए सिंधु नदी की बालुकाकीर्ण भूमि से अच्छा स्थान और कोई न था।

६—भरत ने आभीरी के लिए अपभ्रंश का प्रयोग कही भी नही किया है। इससे पता चलता है कि यह भाषा भरत के समय में अपने प्रारम्भिक विकास की अवस्था मे थी और आभीरोक्ति के नाम से प्रसिद्ध थी। इसमे बोलने वालो का स्थान पंजाब और ऊपरी सिंध मे था। इस बोली का क्षेत्र सकुचित होने से—केवल पशुपालकों की भाषा होने के कारण—इसका साहित्य नहीं बनने लगा था। शनैः शनैः ये लोग दक्षिण तथा उत्तर की ओर बढे, आर्य जनता में इन्होने अपने को मिला दिया और इन्हीं की वाणी के योग से प्राकृत को अपभ्रंश का रूप मिला।

२—चण्ड ने अपने प्राकृत-व्याकरण (वि० छठी शती) मे "नलोपोऽपभ्रंशस्योरेसस्य[1]" सूत्र में विशेष भाषावाचक रूढ़ 'अपभ्रंश' पद का उपयोग किया है।

३—वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से जिसमे 'अपभ्रंश-प्रबन्ध' पद का प्रयोग हुआ है, अपभ्रंश पद के रूढ प्रयोग तथा साहित्यिक अपभ्रंश-काल पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। शिलालेख की वह पंक्ति जिसमें रूढ अपभ्रंश पद का प्रयोग है—

"संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुण।"

धरसेन का पिता गुहसेन जिसके विषय मे यह शिलालेख लगवाया गया था, ५५९ और ५६९ ई० से सम्बद्ध किया गया है। इससे पता चलता है कि ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में

१. देखिए, चण्ड का प्राकृत लक्षण, पृष्ठ २४, सूत्र ३७ (सत्य०)

अपभ्रंश में साहित्यिक रचना होने लगी थी, यद्यपि अभी तक उस समय का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।

४—भामह भी अपभ्रंश से परिचित थे। ये छठी शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे। इन्होंने अपने 'काव्य' में लिखा है :—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा"

भामह के इस उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी के अन्त तक अपभ्रंश भी काव्य-भाषा मानी जाने लगी थी परन्तु इससे यह नहीं पता चलता कि यह भाषा किन लोगों द्वारा बोली जाती थी।

५—महाकवि दण्डी (वि० आठवीं शती) ने अपने समय की साहित्यिक भाषाओं में अपभ्रंश का भी नाम गिनाया है—

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रे तु, संस्कृतादन्यद् अपभ्रंशतयोदितम्"

(काव्यादर्श १ परि० श्लोक ३६)

दण्डी के इस श्लोक के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है :—

१—आभीरादि गिरा ही अपभ्रंश थी।

२—काव्य में अपभ्रंश का प्रयोग प्रतिष्ठित हो गया था।

६—'कुवलयमाला' कथा के कर्त्ता दाक्षिण्य चिह्न या उद्योतनसूरि (वि० नवीं शती) ने अपनी कथा में अपभ्रंश पद का प्रयोग विशेष भाषा के अर्थ में किया है—

"किं चि अवब्भंसकया का वि य पेसायभासिल्ला"

(कुवलयमाला प्रारम्भ, हस्तलिखित प्र० पा०)

७—रुद्रट ने (वि० नवीं शती) अपने काव्यालंकार में भाषाओं के ६ भेद किए हैं :— १. संस्कृत २. प्राकृत ३. मागध ४. पैशाची ५. शौरसेनी ६. अपभ्रंश, जिसके देश भेद के कारण कई भेद हो गये थे—

"प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश।" २.१२

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मागधी आदि प्रांतीय भाषाओं के अतिरिक्त उन प्रांतों में अपभ्रंश भी कुछ भेद के साथ प्रचलित थी। यह उनकी तरह केवल एकदेशीय होकर नहीं रह गई थी।

८—राजशेखर—इनका समय भी नवीं शताब्दी है। राजशेखर ने बड़े कौशल से न केवल राजसभा में स्थित कवियों के स्थान का निर्देश किया है, वरन् संस्कृत आदि भाषाओं के प्रचार-स्थानों का उल्लेख भी कर दिया है। देखिए—

"तस्य चोत्तरत संस्कृता. कवयो निविशेरन् ।
पूर्वेण प्राकृता· कवयो······
पाश्चिमेनापभ्रंशिन. कवयः
दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।
(काव्यमीमांसा पृ० ५४)

इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों का स्थान राजशेखर ने पश्चिम माना है । इसी भाव को राजशेखर ने कुछ अधिक विस्तार देकर इस प्रकार व्यक्त किया है—

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ।।

इस प्रकार राजशेखर यह प्रकट कर देता है कि उसके समय मे अपभ्रंश का प्रचार सारे मरु प्रदेश तक और भादानक प्रदेश मे था । इससे हम यह नहीं कह सकते कि अपभ्रंश भाषा केवल उन्ही प्रदेशो मे बोली जाती थी, इसका तात्पर्य केवल यही है कि उस समय उन प्रदेशो के साहित्य में अपभ्रंश का प्रचलन था । राजशेखर यह भी लिखता है कि राजा के नौकरों को अपभ्रंश भाषा में प्रवीण होना चाहिए क्योंकि नौकरो के द्वारा ही राजा साधारण लोगो के दुःखो को जान सकता है । सम्भवतः राजशेखर ने इसी विचार से राजा के नौकरो के निमित्त यह नियम रखा है । एक अन्य श्लोक मे राजशेखर ने एक और मार्के की बात कह दी है वह यह कि सुराष्ट्र, त्रवण आदि स्थानो के कवि संस्कृत मे रुचि रखते थे, परन्तु उसमे अपभ्रंश का पुट सदैव रहता था । श्लोक इस प्रकार है—

"सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि" ।।

इस प्रकार मरु, टक्क और भादानक के साथ त्रवण और सुराष्ट्र ने भी साहित्यिक अपभ्रंश की वृद्धि में अपना योग दिया ।

राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे अपभ्रंश से सम्बन्धित ये सूचनाएँ मिलती हैं—

१— नाटकों में भृत्य पात्रों की भाषा अपभ्रंश होती थी ।

२— राजकर्मचारी अपभ्रंश-भाषणप्रवण होते थे ।

३— संस्कृत के साथ लालित्य की वृद्धि के लिए काव्य में अपभ्रंश का प्रयोग भी प्रचलित हो गया था ।

४– राजशेखर के समय अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा नहीं थी, अपितु बोलचाल की भाषा भी थी। साहित्य और बोलचाल की भाषाएँ एक दूसरे से बहुत सम्बन्वित थीं और दोनों जीवित भाषाएँ थीं। अन्य पुरानी प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश अभी मृत भाषा नहीं हुई थी।

नमिसाधु की कुछ उक्तियों से भी अपभ्रंश की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। कव्यालंकार की टीका में वे लिखते हैं—

"प्राकृतेवापभ्रंश :। सचान्यैरुपनागराभीरग्राम्यादभेदेन त्रिधोक्तस्तान्निशसाथयुक्तं भूरिभेद इति कुतो देशविशेषात्। तस्यच लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्"॥

नमिसाधु की उक्तियों से यह बात प्रकाश में आती है कि "अपभ्रंश का प्रसार मगध तक था"। भरत के समय के अपभ्रंश के बीज (आभीरी) ने उगकर अपना प्रसार सिंध, मुलतान और उत्तर पंजाब तक कर लिया और धीरे धीरे नमिसाधु के समय (वि० ११२५) तक उसकी शाखाएं मगध तक फैल चुकी थीं।

यहाँ हम सरस्वती-कण्ठाभरण के रचयिता भोज और वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट को भी अपभ्रंश के संबंध से भुला नहीं सकते क्योंकि अपभ्रंश की स्थिति पर रचना के उद्धरणों से पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। भोज कहते हैं कि गुर्जर लोग अपने अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं, उत्तर भाषाओं से नहीं:—"अपभ्रंशेन तुष्यन्ति नान्येन गुर्जरा।"

(सरस्वती-कण्ठाभरण, पृ० २ श्लोक १३)

और वाग्भट ने काव्य की काया के निर्माणार्थ चार भाषाओं का उल्लेख किया:—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत-भाषित:—

"संस्कृतं प्राकृतं तस्य अपभ्रंशो भूतभाषितम्,
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्।"

(वाग्भटालंकार, पृ० २.१)

वाग्भट ने शुद्ध 'अपभ्रंश की बात कह कर उसके विकार या भ्रंश की ओर भी इंगित किया है:—

"अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तद् देशेषु भाषितम्।"

(वाग्भटा० श्लोक ३)

उक्त विवेचन के आधार पर यह कह कहा जा सकता है कि साहित्यिक अपभ्रंश का अस्तित्व विक्रम की छठी शती के आस-पास का है, किन्तु भरत द्वारा किया हुआ 'आभीरोक्ति' शब्द का प्रयोग और उसके उदाहरणरूप में प्रस्तुत किये गये अपभ्रंश पद्य साहित्य अपभ्रंश को विक्रम की छठी शती से भी पूर्व पहुँचा देते हैं।

बात यह है कि किसी भाषा में साहित्यिक रचना एक साथ ही नहीं फूट निकलती। जो भाषा लोक-भाषा के रूप में स्थिर हो जाती है, जिसके प्रयोग स्थिर हो जाते हैं। कवि उसी भाषा में अपने सब भावों को व्यक्त कर सकता है, किन्तु लोक-भाषा को साहित्यिक भाषा का

रूप प्राप्त करने मे समय तो लगता ही है। अतएव भारत मुनि द्वारा दिये हुए अपभ्रंश-पद्यो के आधार पर यह कहना अनुचित नही है कि इन साहित्यिक पद्यो की भाषा को उनके स्तर तक आने के लिए एक-डेढ़ शती का समय तो लग ही गया होगा। अतएव भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रचलन विक्रम की चौथी-पाँचवी शती तक पहुँच जाता है।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखने पर उक्त ग्रन्थो मे आनेवाले अनेक पद्यो की भाषा चोखी अपभ्रंश है। बौद्धमहायान परपरा के ललितविस्तर, लंकावतार-सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक आदि आदि अनेक ग्रन्थो मे जो आज उपलब्ध है ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं। जो न तो सस्कृत के हैं न रूढ प्राकृत के किन्तु उन पद्यो में आये हुए विभक्त्यन्त पदो को देख कर अपभ्रंश का कोई भी विद्वान् उनमे विकसित अपभ्रंश रूप को पा सकता है।

महायान पथ के ललितविस्तरआदि ग्रन्थों के अपभ्रंश-पद्य

जैन ग्रन्थ वसुदेवहिंडि आदि में अपभ्रंश पद्य और गद्य

इसके उपरान्त जैन-ग्रन्थ वसुदेवहिंडि आवश्यक चूर्णि, कुवलयमाला, आदि ग्रन्थो में स्पष्ट अपभ्रंश पद्य विद्यमान हैं।

कुवलय माला मे ही सुन्दर सदर्भवाला गद्य अपभ्रंश मिलता है। कुवलयमाला का समय वि० की नवी शती माना जाता है। आवश्यक चूर्णि का समय विक्रम की नवी शती है। जैनो का एक ग्रंथ 'विशेषणवती' है उसका समय ७वीं शती है। इसी ग्रन्थ में 'वसुदेवहिंडि ग्रन्थ' का परिचय दिया हुआ है, जिसका समय ५वी ६वीं शती के बीच मे माना जाता है। इन जैन ग्रन्थो के आधार पर ही साहित्यिक अपभ्रंशका समय विक्रम की पाँचवी शती के उत्तरार्ध मे पहुँच जाता है।

उक्त बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों का समय

बौद्ध ग्रन्थो का समय इनसे भी पूर्व जा पहुँचता हैं। ललितविस्तर का समय विक्रम की चौथी शताब्दी माना जाता है। इसमे साहित्यिक अपभ्रंश का समय ललितविस्तर से एकाध शती पूर्व तो मानना ही चाहिए क्योकि किसी चालू भाषा को साहित्यिक पद पर पहुँचते पहुँचते एकाध शताब्दी का समय तो लग ही सकता है।

इस प्रकार देखने पर बोलचाल का अपभ्रंश पाली, आर्ष प्राकृत या अर्धमागधी का निकटवर्ती है और बोलचाल के अपभ्रंश के पीछे ही साहित्यिक अपभ्रंश का आविर्भाव घटित प्रतीत होता है। समय की दृष्टि से साहित्यिक अपभ्रंश का शैशवकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी, किशोरकाल चौथी शताब्दी, और पांचवी शताब्दी के पीछे इसका यौवनकाल माना जा सकता है।

बोलचाल की अपभ्रंश तथा साहित्यिक अपभ्रंश का समय

'अपभ्रंश प्रबन्ध' के सूचक उक्त शिलालेख तथा पाँचवी-छठी शती के वसुदेवहिंडि ग्रन्थ में आने वाले अपभ्रंश पद्य साहित्यिक अपभ्रंश के लिए समय की सूचना देते हैं और उक्त ललितविस्तर के पद्यो से साहित्यिक अपभ्रंश के जिस विकासमान यौवनकाल का अनुमान

कराया गया है, उनके बीच में विशेष अन्तर नहीं है। इसलिए साधारण रीति से साहित्यिक अपभ्रंश का समय पाँचवीं शती कहना अनुचित नहीं है।

अपभ्रंश का साहित्य

साहित्य की दृष्टि से देखने पर अपभ्रंश का साहित्य विपुल है। महाकवि चतुर्मुख, स्वयंभू, त्रिभुवन, तिलकमंजरीकार धनपाल, 'भविसयत्तकहा' का रचयिता द्वितीय धनपाल, पुष्पदंत, कनकामर और जोइंदु आदि कवियों का अपभ्रंश के विकास में बहुत बड़ा योग है।

अवहट्ट और अपभ्रंश

कुछ कवियों ने अपभ्रंश भाषा को 'अवहट्ट' (अपभ्रष्ट) शब्द से अभिहित किया है। अवहट्ट[1] और अपभ्रंश, इन दो पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता।

अपभ्रंश का वैविध्य

जैन और बौद्ध कवियों ने अपभ्रंश भाषा में समान रूप से रुचि दिखलाई है। देशभेद और कालभेद में अपभ्रंश से एक तारतम्य मिलता है। भेददृष्टि से अपभ्रंश के शौरसेन, मागध, पैशाच आदि प्रान्तिक भेद किये गये हैं। जिस प्रकार एक सर्वसाधारण 'प्राकृत' के जिस प्रकार प्रान्तिक भेद शौरसेन प्राकृत, मागध प्राकृत आदि कहलाये, उसी प्रकार एक सर्वसाधारण अपभ्रंश के 'शौरसेन अपभ्रंश' आदि भेद हुए। इस संबंध में यह बात याद रखनी चाहिये कि मूल अपभ्रंश और प्रान्तिक अपभ्रंश में असाधारण अन्तर नहीं रहा था।

राजशेखर और मार्कण्डेय द्वारा किये हुए अपभ्रंश-भेद

राजशेखर के काव्यमीमांसा आदि अलंकार-ग्रन्थों में अपभ्रंश के नागर, टक्क, व्राचड़ आदि भेद किये गये हैं। इस भेद-गणना की प्राचीन परंपरा का अनुसरण करके मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के अनेक भेद किये हैं—मार्कण्डेय अपभ्रंश के नागर, व्राचड़ और उपनागर—इन तीन भेदों को प्रधान समझता है। इसके पश्चात् लाट, वैदर्भ, बार्बर, आवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड़, औढ्र, पाश्चात्य, पांड्य, कौन्तल, सैंहल, कालिंग्य, प्राच्य, कार्णाटिक, द्राविड़, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैतालिकी आदि सत्ताइस[2] भेदों की सूचना देता है।

विकास की दृष्टि से अपभ्रंश ने गद्य और पद्य दोनों शैलियों में विकास किया। ललितविस्तर महापुराण का गद्य भाग सरल संस्कृत में है और पद्य भाग अपभ्रंश भाषा में है। जिस प्रकार लोक-भाषा के ग्रन्थों में संस्कृत व असंस्कृत जैसी शैली विशेष शोभा देती है, उसी प्रकार ललितविस्तर की प्रांजल संस्कृत में लोक-भाषा की रचना से विशेष सौष्ठव आता है। प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि प्रबन्ध-ग्रन्थों की एवं इसी प्रकार के अन्य कथा-ग्रन्थों की रचना-शैली देख कर तथ्य सामने आ सकता है।

---

१. संदेशरासक में भाषाओं की गणना में अपभ्रंश के बदले अवहट्टय (अपभ्रंशक) शब्द मिलता है—"अवहट्टय-सक्कय-पाइयं च पेसाइयम्मि भासाए। गाथा—६
अर्थात् अवहट्टय (अपभ्रष्टक), संस्कृत, प्राकृत और पैशाचिक भाषाओं के नाम लिये गये हैं।

२. दे. मार्कण्डेय प्राकृत स० पृष्ठ २ विभाग।

लोकभाषामय रास आदि में संस्कृत-शैली जिस प्रकार भली प्रतीत होती है, उसका नमूना पृथ्वीराज-रासो तथा तुलसी-कृत रामचरितमानस में मिल सकता है.—

१. आदी देव प्रणम्य नम्य गुरयम् वानीय वन्दे पयं।
सिष्टं धारन धारयम वसुमती लच्छीस चर्नाश्रयम्।

(पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १)

२. अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम्
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥

(रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड : ३)

अपभ्रंश भाषा की विशेषताएँ

(१) संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं से प्राप्त अन्तिम स्वर का ह्रास हो जाता है।
(२) अन्तिम स्वर के पूर्व स्वर की मात्रा वैसी ही रहती है।
(३) द्वित्व व्यंजनों का अभाव और प्रथम अक्षर का दीर्घीकरण हो जाता है।
(४) समीप में स्थित स्वरों का संकोच हो गया।
(५) अकारान्त पुल्लिंग शब्द के रूपों की प्रधानता हो गई।
(६) लिंग-भेद समाप्तप्राय हो गया।
(७) तृतीय तथा सप्तमी और चतुर्थी–पंचमी-षष्ठी के रूपों का समन्वय तथा परसर्गों का प्रयोग हुआ।
(८) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में कमी हो गई।
(९) विशेषणमूलक सर्वनामों के रूप नामों के समान होने लगे।
(१०) धातुओं के कालों में न्यूनता हो गई।
(११) कृदन्त रूपों का अधिक मात्रा में प्रयोग।
(१२) स्वर ध्वनियाँ अ, इ, उ, ए, ओ—ये ह्रस्व तथा आ, ई ऊ ए ओ—ये दीर्घ मिलती हैं।
(१३) व्यंजनों में ङ तथा ञ को छोड़ कर सभी ध्वनियाँ मिलती हैं।
(१४) अन्त्य स्वर का लोप तथा ह्रस्व करने की प्रवृत्ति जैसे—प्रिया 7 पिय, सन्ध्या 7 संझ, क्षेत्रित 7 खेती।
(१५) उपधा (अन्त्याक्षर से पूर्व अक्षर) की सुरक्षा—गोरोचन 7 गोरोअण, पुष्कर 7 पोक्खर।

(१६) कहीं-कहीं अन्त्याक्षर में व्यंजन-ध्वनि के लोप हो जाने पर उपधा तथा अन्त्य स्वर का संकोच भी हो जाता है; जैसे—पोट्टलिका 7 पोट्टलि, परकीया 7 पराई ।

(१७) आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति—गभीर 7 गहिर, तडाग 7 तलाउ, ग्राम 7 गाम ।

(१८) आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति । आदि का 'य' 'ज' में बदल जाता हैं—जैसे याति 7 जाइ ।

(१९) मध्यम व्यंजनों का लोप हो गया है, परकीय 7 पराई, योगिन 7 जोई । महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर 'ह' हो गया है—मुक्ताफल 7 मुक्ताहल, शोभा 7 सोहा ।

(२०) म का वँ होगया हैं जैसे—भ्रमर से भँवर, कमल से कवँल ।

(२१) अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है, जगत् 7 जग, आत्मन् 7 अप्पा (आप) ।

(२२) नपुंसक लिंग तथा द्विवचन समाप्त हो गए ।

(२३) कारकों में परसर्गों तथा कृदन्तों का प्रयोग होने लगा ।

(२४) सर्वनामों में परिवर्तन हो गया, यत् का 'जो' तथा 'जे' तथा रूप आ गया । किम् के स्थान पर क, कि, कवण (कौन) हो गये,

(२५) आत्मनेपद सर्वथा लुप्त हो गया । धातु-रूप भ्वादि-गण के समान ही चलने लगे ।

(२६) शब्द-रूपों तथा धातु-रूपों में सरलता आ गई ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में ऐसे बहुत से शब्द आ गये थे जिनकी सिद्धि संस्कृत धातुओं से नहीं होती थी और न वे तत्सम या तद्भव ही थे । ऐसे शब्दों को देशी कहा जाने लगा और जब ये शब्द अधिक मात्रा में आ गये तो वे देशी भाषा के नाम से अभिहित होने लगे ।

इस समग्र विवेचन का निष्कर्ष यह है कि—

(१) अपभ्रंश दूसरी शती में आभीरोक्ति के नाम से पुकारी जाती थी और सिंध, मुलतान तथा उत्तर पंजाब में आभीर आदि पशु-पालक जातियों द्वारा, जो इन प्रांतों में आकर बस गई थीं, बोली जाती थी ।

(२) छठी शताब्दी तक अपभ्रंश जो आभीरों की बोली कहलाती थी अपभ्रंश नाम से पुकारी जाने लगी और उसने अपना साहित्य भी बना लिया था । इसे भामह, दण्डी आदि काव्यशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है ।

(३) नवीं शताब्दी में अपभ्रंश का आभीरों की बोली कहलाना बन्द हो गया और पश्चिमोत्तर व्यक्तियों की भाषा के रूप में वह पहचानी जाने लगी । अस्तु, नवी शताब्दी तक यह जनसाधारण की भाषा हो चली थी और उसका प्रचार दक्षिण में सुराष्ट्र और पूर्व में मगध तक था ।

(४) ग्यारहवीं शती के मध्य तक अपभ्रंश के कई भेद हो गये। उनमे से एक ने साहित्यिक भाषा के महत्व को प्राप्त किया।। इस शती के पूर्वार्द्ध तक देशी भाषाओं का प्रादुर्भाव आरंभ हो जाने पर भी अपभ्रंश की प्रधानता थी, देश-भाषाओं का आरंभ तो प्राय: सातवी शताब्दी से ही हो गया था, परन्तु उन्होने वर्तमान रूप धारण करना बारहवीं शती के अन्त के आस-पास आरंभ किया था। चन्द कवि १३वी शती के आरंभ में हुए थे। भाषा का वह आरम्भिक रूप चौहान राजा हमीर के समय (१२८३–१३०१ ई० तक रहा था।

(५) अपभ्रंश के उपर्युक्त इतिहास का श्रेय भारत में आने वाले आभीरो* को ही है, जिन्होने देश की भाषा मे इतना बड़ा परिवर्तन कर दिया।

(६) अपभ्रंश आभीरो की निजी भाषा न थी, वरन् उनके उच्चारण से स्थानीय प्राकृत का जो परिवर्तित रूप हुआ, वह पीछे से अपभ्रंश कहलाया। आभीर पीछे के आये हुए विदेशीय थे। आर्यावर्त में बस जाने पर उन्होने स्थानीय प्राकृतो को बोलना आरम्भ किया, परन्तु वे एक नवीन भाषा का उच्चारण ठीक-ठीक नही कर सकते थे। अतः आभीरो द्वारा प्राकृत का एक नवीन अपभ्रंश रूप प्रकट हुआ, जो कालान्तर मे अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(७) आभीर जाति ज्यो-ज्यो पूर्व दक्षिण ओर की ओर बढती गई, वह वहाँ की प्रचलित प्राकृतो को बोलने लगी। यही कारण है कि पीछे के वैयाकरणो ने अपभ्रंश के कई भेद लिखे है।

(८) राजशेखर (९वी शताब्दी ई०) के समय मे अपभ्रंश का बहुल प्रयोग मारवाड़, टक्क, (पूर्व पंजाब) और भदानक प्रदेशो में होता था। सुराष्ट्र और त्रवण (पश्चिमीय राजपूताना) के लोग संस्कृत पढ सकते हैं, उसमे अपभ्रंश का मिश्रण रहता है—

सुराष्ट्रत्रवणाद्या: ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

(काव्यमीमांसा पृ० ३४)

(९) पीछे अपभ्रंश का साहित्य बढता गया और ग्यारहवीं शताब्दी में इसमें साहित्य-रचना प्रचुरता से होने लगी। यो तो अपभ्रंश की रचनाएँ १४ वीं शती के अन्त और १५ वीं के आरम्भ तक भी हुई, किन्तु ग्यारहवीं शती का अन्त होते-न-होते आधुनिक भाषाओं का जोर बढ़ा और उन्हीं मे साहित्य की रचना होने लगी।

*आभीर जाति का उल्लेख महाभारत में मिलता है। जब अर्जुन कृष्ण की विधवाओं को लेकर लौट रहे थे, उस समय आभीरों ने ही उन पर पंचनद में आक्रमण किया था। आभीरों को मनुस्मृति में ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माता से उत्पन्न माना है—"ब्राह्मणात् × × × आभीरोऽम्बष्ठकन्यायाम्"—(अध्याय १०. १५)। जान पड़ता है कि आभीर ईसवी शती के आरंभ में पंचनद में बसते थे। उनका काम गाय, ऊँट, घोड़े, आदि इधर-उधर चराते फिरना था। इसके लिए पंजाब की विस्तृत उर्वरा भूमि अत्यन्त उपयुक्त थी।

(१०) अपभ्रंश के विकास को ध्यान में रखकर उसके चार भेद किये जा सकते हैं—(i) आभीरी, (ii) ग्राम्य, (iii) उपनागर तथा (vi) नागर। नागर के तीन भेद हैं—(i)आदि रूप महाराष्ट्री, (ii) हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित तथा (iii) पुरानी हिन्दी।

(११) प्रमुख रूप से तो नागर, उपनागर और व्राचड—ये तीनों भेद ही माने गए हैं।

आभीर जाति क्रमश; प्रभुता प्राप्त करती गई। ईसवी सन् १८१ में क्षत्रप रुद्रसिंह के समय में उसके सेनापति के आभीर होने का उल्लेख मिलता है। सन् ३०० में शिवदत्त का पुत्र ईश्वरसेन, जो नासिक का शासक था, आभीर था। इलाहाबाद के स्तंम्भ पर खुदे हुए समुद्रगुप्त के लेख (ई० सन् ३६०) से पता चलता है कि आभीर और मालव जाति राजस्थान, मालवा, और गुप्त साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिम की सीमा पर शासन करती थी। इस प्रकार कमशः प्रबल होती हुई आभीर जाति पूर्व और दक्षिण की ओर विस्तार करती चली गई। आठवीं शताब्दी में जब 'काठी' लोगों ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया, उस समय वह देश आभीरों के अधिकार में था। 'फरिश्ता' ने तो खानदेश के प्रसिद्ध दुर्ग असीरगढ़ को आसा नामक अहीर का बनवाया हुआ बतलाया है।

: २ :

भक्ति की पीठिका

हिन्दी मे भक्ति का जन्म कब हुआ, इस संबन्ध मे विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसे देश की विभूति मानते है और कुछ विदेशी प्रभाव कहते हैं। विदेशी प्रभाव बतलाने वाले वे लोग हैं जो या तो स्वयं विदेशी हैं या वे जो विदेशियो के मत को ही मान्यता देते हैं। अनेक प्रमाणो से यह कहना अनुचित न होगा कि भक्ति भारत की सम्पत्ति है और भारत मे ही इसका सृजन एव अर्जन हुआ।

'भज्' धातु से उत्पन्न 'भक्ति' शब्द सेवा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ। भारत मे भक्ति ने कब जन्म लिया यह बतलाना कठिन है। क्योंकि कोई धार्मिक प्रवृत्ति एक-दो दिन में जन्म लेकर प्रचलित नही हो जाती,किन्तु यह सत्य है कि भक्ति का इतिहास अन्तर्लोक के विकास का इतिहास है जिसमे भारतीय संस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक पक्ष निहित है। वैदिक साहित्य भक्ति को बीज रूप मे प्रस्तुत करता है। आर्य जाति ने सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली शक्तियों को 'देव' रूप में ग्रहण किया था। वरुण, सविता, उषा आदि के विषय मे रचे हुए आत्म-विभोर कर देने वाले वेद-मन्त्रों को पढकर सच्ची भक्ति की अनुभूति न करना असंभव है चाहे उसका 'दार्शनिक' आधार कितना ही अपूर्ण क्यो न हो।[१] मंत्र-काल मे ही 'ब्रह्मरूप' मे एक ऐसी शक्ति की भावना कर ली गयी थी जिसमे अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं के रूप मे ग्रहण की गयी भिन्न-भिन्न शक्तियों का समाहार था।[२]

वैदिक काल के सर्वप्रथम धर्म-देव 'वरुण' थे। वे ऋत (सत्य) के संरक्षक थे। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही माना गया था। पापो से मुक्ति पाने के लिए लोग वरुण-कृपा की याचना किया करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-संरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञान्न को देवताओं तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को उतना महत्त्व नही दिया गया था। वैदिक काल का आर्य-लोक अपने जीवन का अभ्युत्थान, तप और सदाचार के द्वारा सम्भव मानता था। इन्ही के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

ऋग्वेद मे विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो विश्वस्य) हैं और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग के राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथब्राह्मण के अनेक उद्धरणो मे यह बात भली-भाँति

१. देखिये, बेल्वोलकर

२ ऋग्वेद, १-२ १६४-६४

प्रमाणित हो जाती है कि एक समष्टि-शक्ति मंत्र-काल में ही नाना रूपों और व्यापारों द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग गयी थी। आगे चल कर उन सब देवताओं का ही तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा कर दी गयी। इससे धर्म के इतिहास में दो नयी बातों का समावेश हुआ—एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी, उस परम शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति। ये ही दोनों तत्त्व आगे चल कर भक्ति के आधार के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए।

वैष्णव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमें विष्णु को सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदों के वे मंत्र भी जो इतर देवों से संबंधित हैं, विष्णु-विषयक बना दिये गये हैं। यही देव तैत्तिरीय आरण्यक में 'नारायणत्व' प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि हैं जिनको पांचरात्र लोग विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं।

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना-कांड में हुआ दीख पड़ता है, जो ज्ञान-कांड का ही एक अंग है। ज्ञान-कांड के दो मार्ग हैं–एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्ति-परक ज्ञान-मार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष-समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्म-परक ज्ञान-मार्ग। कर्म-परक ज्ञान-मार्ग के साथ बुद्धि और हृदय, दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति-मार्ग का प्रारम्भ हो गया। अथवा यों कहिये कि मनुष्य की बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से संचालन प्रारम्भ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परम्परा का आधार उस समय का दर्शन रहा। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनन्द-स्वरूप मानव आनन्द का भी स्रोत मान ली गयी। जब वह शक्ति इस ओर आनन्दमयी दीख पड़ी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गयी। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक हो गयी। पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नों से पा सकते हैं? कठोपनिषद् में इसका उत्तर नकारात्मक रूप में मिलता है। "वह आत्म (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न बहुश्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करती है, उसी को उसकी प्राप्ति होती है। उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देती है।"[1] स्पष्टतः इससे भक्ति-मार्ग का अनुग्रह सिद्धान्त-प्रतिपन्न हो जाता है इसी से तुलसीदास की यह उक्ति सिद्ध होती प्रतीत होती है—तुम्हरिहि कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर चन्दन ॥ सोई जानहिं जेहि देउ जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनुग्रह-सिद्धान्त की ओर और भी अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है।[2] उसी से प्रपत्ति भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में ही हुआ, किन्तु जिस भक्ति का बीजन्यास वेद-मंत्रों में और प्रस्फुटन उपनिषदों में हुआ, वही महाभारत के समय के आस-पास विकसित रूप में दीख पड़ती है।

१. कठोपनिषद्, १-२-२३ तथा मु० उपनिषद्, ३-२-३
२. श्वेताश्वतर, ६-२३

यह कहा जा चुका है कि उपनिषद्-काल मे ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गयी थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र मे अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पूर्ण रूप से निर्भय हुआ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रह्म-ज्ञान साधारण लोगो की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद्-काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्म-कांड से ऊब उठी थी वह भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

उपनिषद्-काल के पश्चात् साधारण जनता का धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण हो चला। सकुटुम्ब शिव तथा कृष्ण की भक्ति अलौकिक देव-कोटि की सत्ताओ का अस्तित्व मान कर उनकी पूजा करने लगी। देवताओ की मूर्तियो की पूजा भी इसी युग मे प्रचलित हुई। इसी युग मे पुनर्जन्मवाद और कर्मफल की प्राप्ति की चर्चा भी विशेष रूप से हुई।

पूर्व-जन्म के कर्मों के फल से मुक्ति पा लेना ईश्वर की कृपा से ही सभव हो सकता है। इसके लिए ईश्वर की भक्ति होनी चाहिए। भागवत धर्म की स्थापना इसी सिद्धान्त को लेकर हुई। इसका प्रवर्तन वसुदेव के पुत्र वासुदेव ने किया। भागवत धर्म का अभ्युदय महाभारत मे प्रकट हुआ। गीता भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ बन कर लोक के सामने आकर सम्मानित हुई। इसमें मानव की परम शक्ति के लिए भक्ति को आवश्यक बताया गया है। भागवत धर्म मे नवीनता तो अवश्य थी, परन्तु प्राचीन वैदिक धर्म से उसका सामञ्जस्य करने का सफल प्रयत्न तत्कालीन साहित्य मे मिलता है।

भक्ति का तात्त्विक निरूपण भी सबसे पहले भगवद्-गीता में ही मिलता है जो महाभारत का ही एक अंग है। महाभारत-काल के आस-पास भगवान् का जो उपास्य रूप सामने आया, वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्रीकृष्ण को उस समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिसने अर्जुन को अपने विराट् रूप का परिचय दिया था। एक ही देव 'वासुदेव' मे गुण-समष्टि की कल्पना उनके विराट् स्वरूप को सिद्ध करती है। वसुदेवोपासना परम व्याकर्ता पाणिनि के समय में भी होती थी। भगवान् वासुदेव के भक्त भागवत कहलाये, जिनमें से एक यूनान का राजदूत हेल्योडोरस (Heliodoros) भी था जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भारत मे आया था। महाभारत मे दुर्गा की पूजा का भी उल्लेख है। आगे चल कर दुर्गापूजा शक्ति-पूजा के रूप मे विकसित हुई। शाक्तमत का प्रचार हुआ।

गुप्तकाल में भी विष्णु और उनकी परमप्रिया लक्ष्मी की उपासना की जाती थी और गुप्त-सम्राटो को महाभागवत कहते थे। किन्तु गुप्त-काल मे दुर्गा-पूजा का प्रचार विशेष रूप से हुआ। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो की भाँति शाक्त सम्प्रदाय भी लोक-प्रिय हुआ। इस सम्प्रदाय मे बीभत्स और भयकर विधानो के द्वारा दुर्गा या चंडिका देवी को सन्तुष्ट करने की विधि प्रचलित हुई। मानव का बलिदान करके भी देवी को प्रसन्न करने की आयोजना प्रचलित हुई, किन्तु इसे धर्म की विकृति के रूप में ही देखना चाहिए। कुछ सुसंस्कृत लोग दुर्गा-पूजा

मानवोचित ढंग मे भी करते थे और केवल पत्र, पुष्प, फल, तोय मिष्टान का नैवेद्य समर्पित करके दुर्गा को प्रसन्न करने का उपक्रम करते थे।

हिंसा के विरोध में जैन और बौद्ध धर्म भी प्रतिक्रियात्मक रूप लेकर बहुत आगे आ चुके थे। कालक्रम से बुद्ध की देव-रूप में प्रतिष्ठा हुई। कनिष्क के समय में उनको देवाधिदेव (देवातिदेव) की उपाधि दी गयी और वैष्णव या भागवत धर्म के विष्णु की भाँति उनके अवतारों की कल्पना की गई। महायान की सीमाओं में बौद्ध धर्म ने अवतारवाद की भावना को बहुत प्रौढ़ बना लिया। महायान, शैव और वैष्णव धर्मों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मन्दिर और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्म ने बुद्ध को भी अपने अवतारों में सम्मिलित करके धार्मिक उदारता का परिचय दिया। दोनों धर्मों के निकट सम्पर्क में आने पर समानता ही के कारण बाद में बौद्ध धर्म वैष्णव धर्म में अन्तर्हित होने लगा। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के तान्त्रिक लोग शैवों और शाक्तों से बहुत दूर नहीं थे। यही एक धर्म का स्वर दूसरे में कुछ-कुछ सुनायी पड़ता है।

गुप्त-काल में राजाओं और ब्राह्मणों-पुरोहितों के वैदिक धर्म के साथ साधारण जनता का भक्ति-मार्ग बहुत लोक-प्रिय हुआ। गीतोक्त वैष्णव भक्ति और श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रतिष्ठित शैव भक्ति की पद्धति पर चलने वालों की संख्या बढ़ती गयी। इस भक्ति-मार्ग का सबसे अधिक प्रभावशाली रूप आज भी उस समय के बने हुए मन्दिरों और गुफाओं की मूर्तियों से प्रकट होता है। जैन और बौद्ध सम्प्रदाओं में भी उस समय धार्मिक मूर्ति-कला का विकास हुआ। इन देवताओं के अतिरिक्त सूर्य की उपासना का विशेष प्रचार भी इसी समय बढ़ा। यहाँ यह न भुला देना चाहिए कि अथर्ववेद की उपासना-पद्धति और सामवेद की अर्चना-विधि ने भारतीय भक्ति-विधि-विधान में बड़ा योग दिया।

वैष्णव सम्प्रदाय आज जितना सरल लगता है वास्तव में वह उतना है नहीं। उसमें गवेषक को खिचड़ी सी प्रतीत होती है। इस धर्म में आज वासुदेव, नारायण, कृष्ण आदि जो नाम एक ही अर्थ में प्रचलित हैं वे वास्तव में भिन्नार्थक हैं। खोज से पता लगता है कि ईसवी ४०० वर्ष पूर्व एक वासुदेव सम्प्रदाय पश्चिमीय मध्यभारत में चलने लगा था। कदाचित् यह बौद्ध और जैन धर्मों के समानान्तर चलता था और अवतारवाद के ऊपर समाधारित था। इसके प्रवर्तक वासुदेव नामक महात्मा थे। उनको बुद्ध और महावीर के समान ही अवतार मान लिया गया था। ये महात्मा कान्हायन-गोत्रीय होकर कृष्ण के वंश से सम्बन्ध रखते थे किन्तु कृष्ण वृष्णिकुलोद्भव द्वारकेश कृष्ण से भिन्न थे, वरन् ऋग्वेद में उल्लिखित एक महात्मा थे। वासुदेव नाम पर वासुदेव सम्प्रदाय चल पड़ा और वासुदेव की पूजा होने लगी। ऋग्वेदोल्लिखित कृष्ण के समान इन्हें भी एक अवतार मान लिया गया।

इसी समय एक दूसरा सम्प्रदाय भी चल रहा था। उसमें भी अवतारवाद को प्रधानता थी और ईश्वर को नारायण या हरि के रूप में मान कर पूजा जाता था। इसका सूत्रपात चित्रशिखंडिन नामी महात्मा के द्वारा किया गया था। महाभारत के शान्ति-पर्व के नारायणी

अध्याय मे इनका कुछ संकेत मिलता है और यह ज्ञात होता है कि नारायण की आराधना भक्ति के साथ होनी चाहिए। यही एक नवीन तत्व था जो उक्त सम्प्रदाय मे समाहित हो गया था। सम्भवतः महात्मा रामानुज पर इसी का कुछ प्रभाव पड़ा था क्योंकि वे भी नारायणोपासना पर ही बल देते थे। इसमे भी बौद्धों के प्रभाव से अहिंसा का प्राधान्य-सा था। इसका केन्द्र कदाचित् मथुरा प्रान्त के ही निकट था। कृष्ण-भक्ति की बल्लरी इसी मे सिंचित हो कर कदाचित् इतनी विकसित हुई। काल-क्रम से उक्त सम्प्रदायों का सामंजस्य हो गया। वे एक ही सम्प्रदाय के रूप मे मिल कर प्रकट हुए और नारायण, हरि, वासुदेव एवं कृष्ण एक ही अर्थ में ईश्वर के अवतार ग्रहण किये जाने लगे। ऐसा भी ज्ञात होता है कि ईसवी दो सौ वर्ष से पूर्व ही वैष्णव-पूजा का प्रचार हो गया था। वेद-वर्णित विष्णु को ही सर्वेश्वर मान लिया गया था। पुराण मे तो विष्णु को ही पूर्ण प्रधानता दे दी गयी है और हरि, नारायण, वासुदेव आदि को इन्ही का अवतार कहा गया है। इस प्रकार उक्त सभी सम्प्रदाय आगे चल कर एक ही मुख्य सम्प्रदाय के रूप मे प्रकट हो गये। इसी प्रकार कृष्ण भी वैष्णव सम्प्रदाय के आराध्य बन गये। इतिहास की खोजो से पता चलता है कि मथुरा के निकट दूसरी ईसवी के आस-पास एक आभीर या अहीर जाति थी जिसको कुछ विदेशीय मानते हैं किन्तु कुछ शोधों से पता चला है कि यह जाति भारतीय जाति ही थी। जो हो, इसमे गोपाल कृष्ण की पूजा होती थी। इसका सम्बन्ध उक्त नारायण एवं हरि सम्प्रदाय से नही था, किन्तु आगे चल कर यह गोपाल कृष्ण भी विष्णु के अवतारों मे सम्मिलित हो गये।

हरिवंशपुराण में इस मिलन की प्रधानता दिखाई गयी है और सबको एक ही विष्णु भगवान् का अवतार कहा गया है। कहते हैं कि दूसरी ईसवी के आस-पास छः अवतार हो गये और सबमें नारायण या विष्णु के अंश को देखा गया था। इस प्रकार वैष्णव धर्म का प्रचार ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास ही उत्तर-प्रदेश में हो गया था, किन्तु यह यहाँ ठहर न सका क्योंकि बौद्ध और जैन धर्म के प्रबल आन्दोलनों के सामने यह शिथिल हो कर रुक-सा गया। यहाँ से यह दक्षिण में प्रचलित हुआ और वहाँ स्वयं इसने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया।

यह कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी में मथुरा प्रान्त के निकट वृष्णि जाति के कुछ व्यक्ति वैष्णव धर्म को लेकर बस गए और वहीं उन्होंने अपना एक छोटा-सा राज्य भी स्थापित कर लिया। दक्षिण भारत में हुई खोजो से यह भी पता चला है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी में तामिल देश के कुछ सन्तों ने एक संघ बनाया जिसने विष्णु-भक्ति के प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया। ये लोग विष्णु-संबन्धी साहित्य और संगीत को ही प्रधानता देते थे। इस सत-संघ का केन्द्र आलवार में था और नारायण तथा विष्णु को सर्वेश्वर के रूप में मान्यता देता था। उन्हीं के भक्ति-भजन में इस संघ के लोग लीन रहते थे। यह धर्म भावना-प्रधान था तथा इसमें रागात्मक तत्व का विशेष महत्त्व था।

भक्ति का प्रधान ग्रंथ गीता है जो महाभारत का ही एक अंश है। महाभारत का रचना काल निश्चित होने पर भी संभावना यह की जाती है कि इसकी रचना ईसवी पूर्व एक हजार और

ईसवी दूसरी शताब्दी के बीच हुई होगी। ऐतिहासिक दृष्टि से गीता महाभारत का प्रसंग प्रवर। है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह उपनिषदों का सार है। फिर भी गीता की कुछ अपनी विशेषताएँ है। प्राचीन उपनिषद् स्पष्टतः अद्वैतपरक हैं, गीता में ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है। गीता का ईश्वर, रामानुज के परमेश्वर की भाँति साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी सगुण और साकार है। गीता में उपनिषदों की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व अधिक है। साथ ही उपनिषदों के वैराग्य और सन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गयी है। सन्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श का लोक-जीवन के कर्त्तव्य और धर्म से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा गीता की अपनी विशेषता है। गीता का मूल संदेश, उसका प्रधान स्वर समन्वयात्मक है।

वाल्मीकि-रामायण ने राम का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसमें मर्यादा-पुरुषोत्तम का रूप क होते हुए भी अवतार का केवल संकेत मिलता है। बालकांड के सोलहवें सर्ग में लिखा है रावण के अत्याचारों से पीड़ित देव-मंडली को जब लोक-पितामह ब्रह्माजी सान्त्वना दे रहे तब पीताम्बरविभूषित, शंख-चक्र-गदाधारी, सुवर्ण-केयूर-मंडित, अति-तेजस्वी, जगत्पति विष्णु भगवान गरुड़ पर आरूढ़ हो वहाँ पधारे। देव-समाज ने विनम्र स्तुति करके प्रार्थना —"आप महाराज दशरथ के पुत्र बनिये।" इस प्रार्थना को विष्णु भगवान् ने स्वीकार किया ौर कहा—देवगण आपका कल्याण हो, आप लोग भय का त्याग करें। मैं आपका हित करने ; लिए रावण को उसके पुत्र, पौत्र, मंत्री तथा बन्धु-जन-सहित युद्ध में मार डालूँगा। देवता ौर ऋषियों को भय देने वाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षस का नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षों क पृथ्वी का पालन करता हुआ मनुष्य-लोक में निवास करूँगा। इस प्रकार राम की अवतार के रूप में प्रतिष्ठा सबसे पहले वाल्मीकि-रामायण में हुई। इस प्रकार कृष्ण और राम को आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत करने वाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ महाभारत और रामायण हैं।

इसके पश्चात् तो कालिदास आदि कवियों और पुराणकारों ने इन दोनों महापुरुषों को अपने-अपने ढंग से महत्त्व प्रदान किया है। रघुवंश में राम की कथा को कुछ अधिक विस्तार- दिया गया। फिर तीसरी शती के आस-पास 'भास' ने अपने नाटकों में और सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में 'भवभूति' ने अपने नाटकों में राम के चरित्र को महत्त्व देकर राम-काव्य के उत्थान में एक बड़ा अध्याय जोड़ा।

इधर पुराणों की सृष्टि अविकल रूप से भारतीय भक्ति-धारा के प्रवाह को प्रगति देती रही। रामायण और महाभारत इन पुराणों के स्रोत बने रहे। यों तो वैदिक काल में भी पुराण कोटि के साहित्य का उल्लेख मिलता है किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार पुराणों का वर्तमान रूप ईसा के पश्चात् ही प्रकट हुआ। जिन पुराणों में दर्शन और भक्ति का पुट है वे प्रधानतः ब्रह्मपुराण, भागवत पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण हैं। लिंग, वामन और मार्कण्डेय पुराणों में शैव और शाक्त सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। वाराह, कूर्म और मत्स्य पुराणों में विष्णु के अवतारों का प्रमुख रूप से वर्णन है। पुराणों से भिन्न, पर उसी कोटि के अठारह

उपपुराण भी है। इनमे अपेक्षाकृत साम्प्रदायिक विषयो की अधिक चर्चा है। फिर भी इन सबका सम्बन्ध वैदिक धर्म से है।

अधिकाश पुराणो का दार्शनिक आधार ईश्वरवादी है। उपनिषदो के दुर्ग्राह्य ब्रह्म की अपेक्षा सगुण साकार परमेश्वर सामान्य जन के लिए सुग्राह्य है। प्राय, पुराणो में विष्णु और उनके अवतारो का ही महत्त्व प्रतिपादित किया गया है किन्तु लिंग, स्कन्द शिव आदि कुछ पुराणो मे शिव को भी महत्त्व दिया गया है। उपासना-क्षेत्र में पुराण विशेष महत्त्व के सिद्ध हुए हैं। वैष्णव पुराणो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लोक-प्रिय पुराण श्री मद्भागवत है इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है। दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है। इसमे विष्णु की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु की ही महत्ता और श्रेष्ठता के समर्थक हैं। वाराह, कूर्म, वामन और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारो का वर्णन है। कुछ पुराणो मे विष्णु और शिव के एकत्व-प्रतिपादन द्वारा समन्वय का स्पष्ट प्रयत्न किया गया है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि काल-क्रम से भक्ति-मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना मे भगवान् का लोक-रक्षा और लोक-मंगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढती गयी जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ प्रेम का आलंबन हो सके। नारदीय भक्ति-सूत्र मे भक्ति को परम प्रेम-रूपा कहकर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। शांडिल्य ने भी अपने भक्ति-सूत्र मे भक्ति को ईश्वर 'विषयक रति' बतलाया है। भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना उसके सर्वत्रदर्शन और सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था। श्री मद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल है। इस ग्रंथ में यह सूचित किया गया है कि "सात्वत धर्म या नारायन ऋषि का धर्म नैष्कर्म्यलक्षण है।" इसमें भक्ति को पूरी प्रधानता नहीं मिली। इसी से यह भागवत पुराण कहा गया है। आगे चलकर यही भागवत-पुराण कृष्णोपासको के प्रेमलक्षण-भक्ति-योग का प्रधान ग्रन्थ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलम्बन हुआ।

इस ग्रंथ का रचना-काल विद्वानो ने (रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास पृ० ३२) ६०० और ८०० ई० के मध्य माना है। मनोहर बालक, प्रेमी युवक, दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर इन सभी रूपो में भागवत ने कृष्ण का चित्रण किया है। यह कृति युगान्तरकारी सिद्ध हुई। न केवल नये सिद्धात के कारण वरन् उत्कृष्ट साहित्य सौंदर्य के कारण भी देश ने शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार कर ली। प्रत्येक प्रांत में पौराणिकों ने इसके भावो और अभिभक्ति के रूपो को गाँवो के द्वार-द्वार पर पहुँचाया दिया। शुद्ध भक्ति को भागवत मे अति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

गीता और भागवत वैष्णवो के प्रधान ग्रंथ हैं। गीता प्राचीनतर है और भक्ति का कर्म-ज्ञान समन्वित रूप प्रत्यक्ष कराती है। तदुपरात भागवत मे कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग

भक्ति का एक स्वतन्त्र क्षेत्र तैयार किया गया। पीछे भक्ति के सिद्धांत-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे ग्रंथ भी बने। नारद-सूत्र, शांडिल्य-सूत्र और नारद-पांचरात्र उन्हीं के उदाहरण हैं।

श्री मद्भागवत के आविर्भाव के उपरांत भक्ति ने जो वाह्य और आभ्यन्तर रूप प्राप्त किया उसके प्रवर्तकों में चार मुख्य आचार्य दिखाई पड़ते हैं। रामानुज, निम्बार्क, माध्व और वल्लभ। किन्तु इनके साथ विष्णु स्वामी के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। इन आचार्यो ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार उपासना-पद्धतियाँ चलाईं। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रसिद्ध अद्वैतवादी अथवा माया के प्रतिपादक शंकराचार्य का आविर्भाव भक्ति के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसवी एक हजार के आस-पास दक्षिणी भारत में सन्यासियों का संघ तैयार हुआ जिसमें उत्तरी भारत के वेदान्ती सन्यासियों में विष्णु की सत्ता-महत्ता भी मानी जाती थी। ये लोग अद्वैतवाद और मायावाद के पक्ष में न थे। अतएव अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में ये लोग सतर्क होकर उठ खड़े हुए। इससे दक्षिण में भक्ति का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक थे रामानुजाचार्य। उन्होंने अद्वैतवाद के विरोध में विशिष्टाद्वैत का प्रवर्तन किया। इस मत के अनुसार ईश्वर को चित्-अचित्-विशिष्ट माना गया है। अर्थात् जीव और जगत् (चिदाचित) ईश्वर की उपाधियाँ हैं। ईश्वर अद्वैत न होकर विशिष्टाद्वैत है। अतएव यह मत एक प्रकार से, वेदान्त के ब्रह्मवाद का ही एक विकसित रूप है। ब्रह्म या ईश्वर के अनेक रूपों की अपेक्षा इस मत में नारायण का रूप ही सर्वप्रधान है। उनकी शक्ति रूप सहयोगिनी लक्ष्मी जी हैं। नारायण के ही अन्य उपरूप वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। इस प्रकार वासुदेव सम्प्रदाय भी इन्हीं के मतों का एक उपरूप मात्र हो जाता है।

ssssss

: ३ :

रामानुज और उनके सम्प्रदाय के सिद्धान्त

ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक महापुरुषो का चरित अभी तक अज्ञात के गर्भ मे विलीन है। रामानुज भी उनमे से एक हैं। उनके जीवन के सम्बन्ध मे जनश्रुति का आश्रय ही प्रधान रहा है। कहा जाता है कि उनका जन्म शक-सवत् ६३६ (वि० सं० १०७३) में हुआ था। उनका बाल्यकाल कांजीवरम् मे व्यतीत हुआ। वहीं वे स्वामी शंकराचार्य के प्रसिद्ध अनुयायी यादवप्रकाश के शिष्य हुए। यादवप्रकाश शंकर के अद्वैतवाद के बडे समर्थक थे। उन दिनो तामिल देश मे वैष्णव धर्म का डंका बज रहा था। उसका प्रभाव रामानुज पर भी पडा। अतएव उन्होने अद्वैतवादी यादवप्रकाश को छोडकर यामुन मुनि को अपना गुरु स्वीकार किया। कालान्तर से वे उन्हीं यामुनाचार्य की गद्दी के उत्तराधिकारी बने और त्रिचनापल्ली के पास श्रीरंगम् में निवास करने लगे। उस समय चोलवंशीय राजाओ का बोलबाला था। उस वंश के राजा शंकर के अद्वैत मत के अनुयायी थे। इसी वंश मे एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेन्द्र हुआ (जिसकी स० ११३१ वि० मे हत्या कर दी गई)। मतभेद के कारण उससे रामानुज की अनबन होगई राजेन्द्र कुलोत्तुंग उसका उत्तराधिकारी बना, किन्तु रामानुज की उससे भी न बनी। इसकारण वे सं० ११५३ वि० मे श्रीरंगम् छोड़कर होयसल वंशीय राजाओ के राज्य (आधुनिक मैसूर) में जा बसे। इस वंश का एक प्रतापी राजा बित्तिदेव या बित्तिगदेव था जिसे इतिहास विष्णु वर्धन के नाम से जानता है। वह तीस वर्ष राज्य करके सं० ११६८ वि० मे स्वर्गगामी हुआ वह पहले जैनमत का अनुयायी था, किन्तु रामानुज के सम्पर्क मे आकर वह वैष्णव हो गया। उसी समय उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रख लिया था। उसने अनेक वैष्णव मन्दिर बनाकर वैष्णव की श्री-वृद्धि मे अनेक प्रकार से योग दिया। उसी के राज्य मे रहकर स० ११६४ वि० मे एक-सौ इक्कीस वर्ष की आयु मे उन्होने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की।

'प्रपन्नामृत' ग्रन्थ के आधार पर रामानुज ने स० ११४४ वि० मे यादवाचल पर नारायण की मूर्ति प्रतिष्ठित की। कहा जाता है कि उन्होने अनेक ग्रंथो की रचना की जिनमे प्रमुख गद्यत्रय, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य है। ब्रह्मसूत्रो पर रामानुजाचार्यकृत भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त उनके भक्ति-सिद्धान्तो के पोषक है। अतएव रामानुज का महत्त्व न केवल दार्शनिक रूप में ही है, वरन् भक्ति के प्रमुख प्रवर्तको मे से भी एक है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार उपनिषद् हैं उनके अनुसार अन्तर्यामी

ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्तक है उससे बाहर कुछ भी नहीं है; परन्तु इस अद्वैतवाद में, इस एकत्व में अनेकत्व की माया वर्तमान है इस संसार की जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न श्रेणी तथा चेतना की हैं, तथा संसार में अचेतन पदार्थ भी विद्यमान हैं जिनका ब्रह्म से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव जीवात्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अन्तर्गत हैं। उससे पृथक् उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी लिए वे निराश्रित हैं। कल्पान्त में प्रलय के समय भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहते हैं। उस समय उनमें वे गुण नहीं रहते जिनके कारण हमें उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती हैं और यद्यपि उनमें ज्ञान की शक्ति अन्तर्हित रहती है, पर वे उसे प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होती हैं। इस अवस्था से पुनः ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते हैं और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती हैं। वे अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती हैं। प्रलय की अवस्था में ब्रह्म 'कारण-अवस्था' में रहता है, और सृष्टि के पुनः उदय होने पर वह 'कार्य-अवस्था' में हो जाता है।

ऊपर जिस अद्वैतवाद की ओर संकेत किया गया है, वह वेदान्त दर्शन की ही एक शाखा है। ध्यान रहे कि वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओं को वेदान्त नाम दिया गया है। वैदिक साहित्य के दार्शनिक ज्ञान का भंडार प्रायः उपनिषदों में मिलता है। वेदान्त उपनिषदों का ही निचोड़ है। महर्षि बादरायण ने ई० पू० तीसरी या चौथी शती में 'वेदान्त-सूत्र' नामक ग्रंथ में इस दर्शन की व्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की। ब्रह्म-सूत्र संक्षेप-शैली की रचना होने से अर्थ में अत्यन्त कूट है। इनका स्वतंत्र रूप से आशय समझना कठिन है। इनकी अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, किन्तु सूक्ष्मता और सन्देह के कारण उनमें मत-भेद है। अपने २ दृष्टि-कोण को लेकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन पर भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे हैं जिनमें वेदान्त-मत की परंपरा का विकास हुआ है। मत-भेद से इसी वेदान्त की तीन शाखाएँ विकसित हुई—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, और द्वैत अद्वैत मत के प्रवर्तक शंकराचार्य थे। रामानुज ने उन्हीं के 'अद्वैत' के तीव्र आलोक से चकित लोक को अपने विशिष्टाद्वैत से भक्ति के मधुर रस का पान कराया।

हाँ तो, उपनिषदों के आधार पर जिस धार्मिक और दार्शनिक परंपरा का विस्तार हुआ वह सम्पूर्ण परंपरा वेदान्त के नाम से विख्यात है। इस प्रकार वेदान्त-परम्परा के विकास के तीन चरण हैं जो 'प्रस्थान-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। "वेदों का अंग होने के कारण उपनिषदों को 'श्रुति-प्रस्थान' कहते हैं। यही वेदान्त का मौलिक रूप और प्रथम प्रस्थान है। वेदान्त का द्वितीय प्रस्थान 'श्रीमद्-भगवद्गीता' है जो 'स्मृति-प्रस्थान' कहलाती है। गीता भावुक जनों की भाँति मनीषियों के लिए पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं हैं। मनुष्य की बुद्धि भावना के लाक्षणिक समन्वय से तृप्त नहीं होती। वह तीव्र तर्क-संगति चाहती है। बादरायण ने अपने ब्रह्म-सूत्रों में मानों गीता के अभाव की ही पूर्ति की है। इनमें वेदान्त-तत्त्वों की व्यवस्था तर्काधार पर होने के कारण ये वेदान्त के 'तर्क-प्रस्थान' कहलाते हैं।"

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि शंकर और रामानुज वेदान्त-परम्परा के दो प्रतिनिधि हैं। किन्तु उनके सिद्धान्तों मे मौलिक भेद है जिसका स्पष्टीकरण दोनों की ब्रह्मसूत्रीय व्याख्या से हो जाता है विद्वानो का मत है कि शंकरकृत वेदान्त-व्याख्या उपनिषदो को प्रधान विचारधारा के अधिक अनुकूल है। रामानुज ने अपनी वेदान्त विषयक व्याख्या में कुछ अर्वाचीन उपनिषद् पुराण, पाञ्चरात्र आदि का आश्रय भी लिया है और कुछ उपनिषदों के सगुण-समर्थक अंशों के आधार पर सगुण परमेश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर उन्होंने जीवन के व्यक्तिगत अस्तित्व और जगत् की सत्ता की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है। इन कारणों से रामानुजीय मत (विशिष्टाद्वैतवाद) मूल वेदान्त से कुछ भिन्न हो गया है।

"रामानुज के अनुसार सत्य का केवल एक ही दृष्टिकोण है और ज्ञान का समस्त विषय ज्ञात सत्य है। विषय और विषयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है, अतः किसी भी अवस्था मे इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता यह भेद केवल व्यावहारिक ही नहीं, वरन् पारमार्थिक भी है। जिस प्रकार विषय और विषयी का भेद नित्य है उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है। अस्तु, रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ-साथ जीव और जगत भी चरम सत्य है। जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नहीं, वरन् नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं, किन्तु जीव और जगत् सत्य और सनातन होते हुए भी परमेश्वर के अधीन हैं। ये स्वतन्त्र नहीं हैं। परमेश्वर अंगी है और जीव और जगत् उसके अंग हैं। अस्तु एक पर ब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतंत्र और परम सत्ता है। अतएव रामानुज का मत भी इस दृष्टि मे अद्वैतवाद ही है किन्तु रामानुज का परब्रह्म शंकराचार्य के ब्रह्म की भाँति निर्गुण, निर्विशेष चिन्मात्र नहीं है, परन्तु वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है। इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

यह जीव और जगत् से विशिष्ट परमेश्वर अखिल सत्ता का अन्तर्यामी है। यह विश्व की आत्मा है। जीव और जगत् उसका शरीर है। जिस प्रकार देह आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार जीव और जगत् भी परमेश्वर के अधीन है। जिस प्रकार आत्मा देह का अन्तर्यामी है, उसी प्रकार परमेश्वर भी जीव और जगत् का अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर सगुण और उपास्य है, निर्गुण और निर्विशेष नहीं। इस सगुण परमेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। यही परमार्थ अथवा मोक्ष है।

रामानुज के अनुसार जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य मोक्ष नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य असंभव और अकल्पनीय है। जीव परमेश्वर का अंश है और उसके अधीन तथा उससे अविभक्त होते हुए भी उसकी एक विविक्त सत्ता है। मोक्ष की अवस्था में भी जीव का विविक्त अस्तित्व रहता है, यद्यपि उसका ज्ञान-परिच्छेद विलीन हो जाता है। जीव की सत्ता की भाँति ही जगत् की सत्ता भी मोक्ष-काल में विलय नहीं होती। तादात्म्य-रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञान द्वारा नहीं, भक्ति द्वारा साध्य है। अतएव रामानुज भक्ति को मोक्ष का परम साधन मानते हैं। ज्ञान और कर्म सहकारी साधनों के रूप में मोक्ष मे सहायक हो सकते हैं।

रामानुज के मत में माया मान्य नहीं है। रामानुज और उनके अनुयायियों ने शंकराचार्य के मायावाद का कठोर खण्डन किया है। विशिष्टाद्वैत मत में जगत् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है। ईश्वर माया से उपहित अपर ब्रह्म नहीं, वरन् साक्षात् परब्रह्म है। यह परमेश्वर ही पारमार्थिक सत्य है। रामानुज को पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद मान्य नहीं है। सत्य की एक ही कोटि और उसका एक ही दृष्टिकोण है। रामानुज का परमेश्वर अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म की भाँति अवैयक्तिक परम तत्त्व मात्र नहीं है, वरन् वह दिव्य व्यक्तित्वान् परम-पुरुष है। दिव्य वैकुण्ठ-लोक उसका मुख्य निवास है। यद्यपि अन्तर्यामी रूप से वह प्रत्येक जीव के हृदय में वर्तमान है। इस करुणामय की उपासना से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक की प्राप्ति कर सकता है और वैकुण्ठ के अनन्त आनन्द का भागी बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में ईश्वर के लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है।

रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म दो विविक्त सत्ताएँ हैं। विविक्त होने के साथ-साथ जीव और ब्रह्म दोनों ही चरम सत्य हैं, यद्यपि समान रूप से स्वतन्त्र नहीं है। चैतन्य जीव और ब्रह्म दोनों का समान धर्म है, किन्तु दोनों के चैतन्य की सीमा में भेद है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का चैतन्य असीम है, जीव का चैतन्य सीमित है। जीव चेतन होते हुए भी अणु है। जीव का सीमित चैतन्य और परिच्छिन्न व्यक्तित्व अविद्या-जनित भ्रांति नहीं, वरन् एक वास्तविक तथ्य है। जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं है, वरन् वह ईश्वर का एक अंश है। जीव ईश्वर के अनन्त आलोक की एक रश्मिमात्र है। वह परमेश्वर की चैतन्य ज्वाला का एक प्रदीप्त स्फुलिंग-मात्र है।

जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर अन्तर्यामी है और वही जीव के कर्मों का प्रेरक तथा वास्तविक कर्ता है। अतएव अहंकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के बन्धन से मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान से नहीं।

रामानुज ब्रह्म के साथ जीव के तादात्म्य ही को मोक्ष नहीं मानते। वे जीव को ब्रह्म (ईश्वर) का अंश मानते हैं। जीव की स्वतंत्र सत्ता तथा पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह ब्रह्म तथा परमेश्वर से भिन्न एक विविक्त तत्त्व है। ब्रह्मलोक अथवा परमेश्वर की प्राप्ति जीव का परम लक्ष्य है और यही उसका मोक्ष है। आत्मानुभवरूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञान द्वारा साध्य नहीं है।

रामानुज के प्रमुख सिद्धांत यही हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने वैष्णव मत के मंदिर को खड़ा किया है। वे ब्रह्म का आविर्भाव पांच रूपों में मानते हैं। पहला रूप 'पर' है जिसमें वह वैकुण्ठ में शेषनाग पर विराजता है। वह लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ एवं शंखचक्रादि से विभूषित होता है। उसके दर्शन केवल मुक्त आत्माओं को होते हैं। दूसरा रूप 'व्यूह' है जिसे वह (ब्रह्म) सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिए धारण करता है। यह रूप चार प्रकार का होता है—अर्थात् ज्ञान और बल का प्रदर्शक 'संकर्षण रूप', ऐश्वर्य और वीर्य का प्रदर्शक

'प्रद्युम्न रूप', शक्ति और तेजस् का प्रदर्शक 'अनिरुद्ध रूप' और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेजस् इन छहो गुणो का प्रदर्शक 'वासुदेव रूप'। तीसरा मुख्य रूप वह है जिसमे वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप अन्तर्यामी का है जिसमे वह मनुष्यो के हृदय मे स्थित है, योगियो को दर्शन देता है, तथा महायात्रा मे आत्माओ का साथी है। पांचवें मुख्य रूप में वह मूर्तियो और प्रतिमाओ में स्थित है। रामानुज के अनुसार मनुष्य की आत्माएं ईश्वर का अंश हैं जो उसी से प्रेरित और शासित होती हैं।

आत्माओ की तीन श्रेणियां हैं—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओ में से कुछ तो सासारिक वैभव के पीछे पडी हैं, कुछ स्वर्गीय सुख की खोज में हैं और कुछ मुक्त होना चाहती हैं। इस अन्तिम श्रेणी की आत्माओ के लिए अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय हैं—एक तो कर्म-योग और तदनन्तर ज्ञान-योग द्वारा भक्ति की प्राप्ति और दूसरा प्रपत्तिमार्ग। कर्म-योग मे बिना किसी प्रकार की कामना अर्थात् बिना फल-प्राप्ति की इच्छा किए अपने-अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य देव-पूजा, तपश्चर्या, यज्ञ, दान, और तीर्थ-यात्रा कहे गये हैं। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञान-योग का अधिकारी हो जाता है जिसमे उसे अपने आपका ज्ञान हो जाता है और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है।

रामानुज के अनुसार भक्ति परमानन्ददायिनी अनुरक्ति नही है, वरन् उसका तात्पर्य ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना है। इसकी प्राप्ति में पवित्र भोजन, जितेन्द्रियता, पूजन, भजन, दान, दया, अहिंसा सत्य आदि सहायक होते हैं। परमेश्वर की प्राप्ति का साधन उसकी प्रीति-पूर्वक भक्ति तथा उपासना है, किन्तु ज्ञान इस भक्ति का सहकारी हो सकता है। परमेश्वर के दिव्य गुणो के ज्ञान से उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है। ज्ञानमूलक भक्ति दृढ होती है। इस मत में भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। इसके अतिरिक्त प्रपत्ति और ईश्वरानुग्रह का भी इस मत मे बडा स्थान है। श्रवण और निष्काम कर्म द्वारा सत्व-शुद्धि ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति की योग्यता का साधन है, किन्तु प्रपत्ति इसका परम साधन है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। सब कुछ छोड कर एकमात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करना पूर्ण प्रपत्ति है।

प्रपत्ति के मुख्य अंग शरणागत-भाव, अविरोध, त्राण मे विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि हैं। प्रपत्ति से परमेश्वर का प्रसाद और उसकी भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन है। उसी से मोक्ष-लाभ होना है, किन्तु तादात्म्य नही। भक्त को सच्चिदानन्द परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान और आनन्द प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसकी शक्ति और सत्ता सीमित रहती है। जीव स्वरूप मे अणु है। मोक्ष-काल में भी वह ज्ञान मे अनन्त किन्तु आकार मे अणु रहता है। उसकी शक्ति का विकास होता है, किन्तु वह असीम नहीं होती। विश्व का सृजन और शासन परमेश्वर का एकाधिकार है। यह अधिकार जीव को मोक्ष मे भी नही मिलता। यह मोक्ष जीवन-काल में संभव नही, अतः रामानुज के मत में केवल विदेह-मुक्ति ही मान्य है।

रामानुज ने ईश्वर प्राप्त के दो मार्ग—भक्ति और प्रपत्ति बतलाये हैं और यह भी बतलाया है कि ईश्वर-प्राप्ति जब एक मार्ग से न हो सके तो दूसरे का अवलंब लेना चाहिये। इन दो सिद्धान्तों के कारण रामानुज के अनुयायियों में बड़ा मत-भेद उत्पन्न हो गया था। कुछ लोग तो यह कहते थे कि प्रपत्ति-मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलंब तभी लेना चाहिये जब जीव भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने में असमर्थ हो। दूसरे कुछ लोग कहते थे कि ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रपत्ति-मार्ग है। भक्ति-मार्ग में भक्त के कृतिपरायण होने की आवश्यकता मानी गई है और प्रपत्ति-मार्ग में वह ईश्वर का शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड़ देता है। उदाहरण के लिए मर्कटन्याय का आश्रय लिया गया है। वानर-शिशु अपनी माँ के शरीर से चिपटा रहता है और वह उसे जहाँ चाहती है, ले जाती है तथा उसकी रक्षा करती है, फिर भी बच्चा अपनी माँ को पकड़े रहता है। यही अवस्था भक्तों की होती है। वे ईश्वर-शरणागत होते हैं, परन्तु स्वयं उनको भी मर्कटवत् उद्योगी रहना पड़ता है। प्रपत्ति-मार्ग के अनुयायियों के संबंध में मार्जारन्याय का आश्रय लिया जाता है। मार्जारी अपने शिशु को मुख में दबा कर अपनी इच्छानुसार लिये फिरती है। शिशु मातृनिर्भर एवं निश्चित होता है। प्रपत्ति-मार्गियों की अवस्था मार्जारवत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकम्पा पर छोड़ देते हैं और उसी पर अवलंबित रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि भक्ति-मार्ग प्रपत्ति-मार्ग की अपेक्षा सरल नहीं है।

इस कारण इस संप्रदाय के लोगों में और भी अनेक भेद हो गये थे। भक्ति-मार्ग के अनुयायियों का आग्रह था कि परम मंत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, दूसरे वर्णवालों को 'ओम्'-रहित मंत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्तिमार्गी इस सिद्धान्त के विरोधी थे। वे सबसे सम व्यवहार करना और पाना चाहते थे। प्रतीत ऐसा होता है कि कदाचित् स्वयं रामानुज भी भक्तिमार्गियों के पक्ष में थे। इसीलिए ब्राह्मणेतर लोगों के लिए उन्हें एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। इसका नाम उन्होंने आचार्याभिमानयोग' रक्खा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिए निर्भर रहता है और आचार्य स्वयं उसके लिए सब कृत्यों का प्रतिपालन करता है। इससे साफ दीखता है कि रामानुज के जीवन-काल में ही इस सम्प्रदाय पर वर्ण-बन्धन लग गये थे और धर्म-भाषा के संबंध में भी मत-भेद चल पड़ा था। अभिजातीय धर्म की भाषा संस्कृत ही को रखना चाहते थे जब कि इधर लोग धर्म की अभिव्यक्ति के लिए देश-भाषाओं को अधिक उपयुक्त मानते थे। इससे यह भी प्रकट होता है कि दक्षिणी भारत में द्विजाद्विज का झगड़ा शताब्दियों पुराना है। इस झगड़े को शान्त करने में रामानुज असफल ही रहे, अतएव हिन्दुओं को भक्ति-सूत्र में बाँध कर वे उनकी एकता की प्रतिष्ठा भी न कर पाये, प्रत्युत उनके कारण भेद-परिखा कुछ और चौड़ी हो गई। जो काम दक्षिणी भारत में रामानुज नहीं कर सके उसको उनके अनुयायियों ने उत्तरी भारतवर्ष में सफलता से सम्पन्न किया। मानों भक्ति-द्वारा उत्तरी भारत के हिन्दुओं की एकता का श्रेय अनुयायियों के ही भाग्य में था।

भक्तो के लिए रामानुज ने कुछ नियम बनाये थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तो की सेवा करें, एकादशी व्रत रक्खें, चरणामृत ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगा कर ही भोजन करें। इस संबंध मे कुछ लोगो का यह विचार है कि इन बातो को उन्होने क्रिस्तानो मे सीखा था, किन्तु इन बातो के यहाँ पहले से न होने का कोई प्रमाण नही मिलता। समानता इस बात का प्रमाण नही दे सकती। जो हो, यहाँ हम किसी विशेष विवाद मे न पढ कर यही कहना चाहते हैं कि रामानुज केवल नारायण के उपासक थे। राम और कृष्ण मे से किसी की पूजा की ओर उनकी न्यूनाधिक प्रवृत्ति नही थी। इसी नारायणोपासना मे आगे चल कर उनकी शिष्यपरंपरा मे राम-पूजा का उदय हुआ।

३

(क)

उनके अनुसार प्रत्येक के जीवात्मा और परमात्मा, ये दो भेद मानते हैं। परमात्मा के गुण, नाम और स्वरूप अवर्णनीय हैं। यदि ब्रह्मा के ऊपर अनेक ब्रह्माओं की कल्पना में एक उच्चतम ब्रह्मा की कल्पना कर लें जिसने अनादि काल से भगवद्गुण-वर्णन के अतिरिक्त अन्य काम नहीं किया हो तो उसके द्वारा भी परमात्मा का एक भी गुण यथार्थ रीति से वर्णन नहीं किया जा सकता। एक गुण का पूरा होना तो अलग रहा, यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि उसका कोट्यंश भी वर्णन हो सका होगा। कोटि की संख्या में तो एक के ऊपर सात ही

परमात्म-प्रत्यक्ष का निरूपण

बिन्दु होते हैं; यदि ऐसी कल्पना करें कि वैसा ही दूसरा ब्रह्मा अनादि काल से एक-एक क्षण में अनन्त-अनन्त कोटि बिन्दु उस अंक पर लगाता आया हो, अब भी इसी हिसाब से लगा रहा हो और आगे भी अनन्त काल तक इसी हिसाब से लगाता चला जाये तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि भगवान् के एक भी गुण के 'इतने' भाग का वर्णन हो गया। शेषजी भगवन्नामोच्चारण से अपनी जिह्वा को सदा पवित्र करते रहते हैं और नये से नये नाम लेते रहते हैं, परन्तु अब तक कोई भी नाम पूरा नहीं लिया जा चुका है। फिर स्वरूप-वर्णन की बात तो असंभव है। अनन्त का अन्त कदापि संभव नहीं हैं। परमात्मा के पराक्रम का भी परिमाण नहीं है। इसी से 'सहस्रनाम' में उसको "अमितविक्रम" कहा गया है। उसके अनेकरूप हैं। इससे उसे 'नैकरूप" कहा गया है। उसकी माया के अगणित रूप हैं, इसलिए उसे "नैकमायः" कहा गया है। अनेक नियमों का विधायक होते हुए भी, स्वयं नियम-बंध से मुक्त है, अतएव उसे "अनियम" एवं विमुक्तात्मा" कहा गया है। उसकी किसी से तुलना नहीं हो सकती, इससे उसका नाम 'अतुल' भी है। ऐसे परमात्मा का वर्णन कैसे हो सकता है। स्तुति करते समय श्रीयामुनाचार्य स्वामी कहते हैं---"जिसके महिमा-समुद्र की एक बिन्दु का भी शर्व, ब्रह्मादि ठीक-ठीक माप नहीं कर सके हैं उसकी महिमास्तुति के लिए उद्यत हुए मुझ निर्लज्ज कवि का नमस्कार हो। अथवा यों कहो कि श्रम की अवधि तक मैं अशक्त भी यथामति स्तुति करता हूँ। और वेद, ब्रह्मादिक भी सदा स्तुति करते हैं, किन्तु परमात्मा की स्तुति के असीम क्षेत्र में किसी की विशेषता नहीं, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि महासागर में डूबते हुए अणु और कुलाचल में कोई भेद नहीं अर्थात् महासागर की गंभीरता में जिस प्रकार अणु डूबता है उसी प्रकार कुलाचल भी। इस काम में दोनों ही समान हैं। अति तुच्छ मैं जिस प्रकार परमात्मा की पूर्ण स्तुति

नही कर पाता हूँ उसी प्रकार वेद ब्रह्मादिक बहुत बडे होते हुए भी पूर्ण स्तुति नही कर पाते है। अपूर्णता दोनो मे है, तो भी स्तुति वे भी करते हैं और मैं भी।''*

यद्यपि भक्त द्वारा भगवत्स्तुति करना केवल उसकी अयोग्यता का परिचय है, फिर भी जबकि उसके सभी व्यवहार भगवदर्थ हैं तो गिरा से भी जो कुछ निकलता है वह भी तदर्थ है। भगवान् को प्रणाम करते हुए स्वामी यामुनाचार्य कहते हैं—"वाणी और मन की अतिभूमि (ऐसे भगवान् जिसे वाणी और मन नही पा सकते) को नमस्कार है, वाणी और मन की एकभूमि (यदि वाणी और मन कुछ पा सकते है तो एकमात्र उसी को) को नमस्कार है; अनन्त और महाविभूति परमात्मा को नमस्कार है; अनन्त दया के एकमात्र सागर (परमात्मा) को नमस्कार है।**

यहाँ यह शंका रह सकती है कि महाविभूतिवान् होने से वह हमारी ओर दृष्टि क्यो करने लगा? इसके समाधान के लिए अन्तिम पद मे कह दिया गया है कि वह अनन्त दया का एक समुद्र है। अतएव हम जैसे हीन जीवो का ठीक-ठीक निर्वाह होगा, क्योकि उस दया के पात्र होने वह हम लोगो पर दया करेगा। जहाँ यह है कि परमात्मा वाणी और मन की पकड़ में नही आ सकता, वहाँ चित्त के उत्साहित करने के लिए यह भी कहा गया है कि भगवान् ही वाणी और मन की एक भूमि है अर्थात् मन और वाणी मे उसके पूर्ण स्वरूप के के ग्रहण करने और वर्णन करने की शक्ति नहीं है, तथापि ये दोनो जो कुछ भी पकड़ते हैं, उसी को पकड़ते हैं। अधिष्ठान होने से मुख्य होकर वही आ जाता है।

राम होने से सब जगह वही रम रहा है। "विद्वान् लोग उसे वासुदेव इसलिए कहते हैं कि वह सर्वत्र समस्त बसता है।"× अच्युत, अनन्त, गोविन्द, जगन्नाथ, देवेश, नारायण, पुरुषोत्तम, भूतभव्यभवन्नाथ, माधव, हरि आदि उसी के नाम हैं।

उसके पाँच रूप कहे जाते हैं:—(१) पर (२) व्यूह ३) विभव, (४) अन्तर्यामी (५) अर्चा। 'पर' वैकुण्ठनाथ हैं। वे विरजा के पार, माया-मण्डल के परे विराजते हैं। इस दिव्य मंगल-विग्रह के चरणारविन्द मे पहुँच जाना ही उन मुमुक्षुओ का उद्देश्य है जो वास्तव मे 'भगवत्पर' हैं। ऐसा रूप-सौंदर्य किसी में नहीं है।

पर के पीछे दूसरा भगवत्स्वरूप 'व्यूह' हैं। यह चतुर्धा है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन चारो में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ये छै गुण पूरे-पूरे हैं, किन्तु वासुदेव मे तो वे प्रकट हैं और शेष तीनो मे भिन्न-भिन्न दो-दो प्रकट और चार-चार

---

* तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणु शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः।
कर्तुं तदीय महिमस्तुतिमुद्यताय मह्यं नमोस्तु कवये निरपत्रपाय॥
यद्वा श्रमावधि यथामति वाप्यशक्तः स्तौम्येवमेव खलु तेऽपि सदास्तुवन्त।
[illegible] ॰शोर्विशेष॰॥

** [illegible]

× सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
अतः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥

अप्रकट हैं। उपासकों की उपासना और जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार के व्यापार-भेद से यह मूर्ति-भेद है।

तीसरा 'विभव' स्वरूप है जो राम, कृष्ण आदि अवतारों में मिलता है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब महात्माओं के (साधुओं के) परित्राण और धर्म की संस्थापना के लिए भगवान् अवतार धारण करते हैं। ये सब अवतार 'विभव' कोटि में हैं।

चौथा 'अन्तर्यामी' स्वरूप है। वह सब के अन्तर में प्रवृष्ट होकर यमन करता रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसकी इन्द्रिय-गोचरता के अर्थ जीवों में योग्यता नहीं है। इसीलिए 'सहस्रनाम' में उसके 'अव्यक्त' 'अतीन्द्रिय' 'अमूर्तिमान' 'अदृश्य' आदि नाम हैं। व्यापक अधिष्ठानस्वरूप होने से माया-मण्डल का यावत्प्रपंच इसी की सत्ता से खड़ा है। 'निराकार' शब्द से जो कोलाहल सुना जाता है, वह इसी 'अन्तर्यामी' 'अव्यक्त का प्रतिपादन है, किन्तु 'पर', 'व्यूह' 'विभव' और 'अर्चा' ये चारों स्वरूप साकार हैं।

पाँचवा स्वरूप 'अर्चा' है। जहाँ-तहाँ भगवान् के मंदिरों में तथा उपासकों के घरों में जो पूजन होता है, वह भगवान् के 'अर्चा' स्वरूप का होता है।

ऊपर 'विग्रह', 'चरणाविन्द' और 'रूप-सौंदर्य' आदि शब्दों से वैकुण्ठनाथ का साकारत्व प्रतिभासित होता है। वे साकार हैं। उनके आकार की मधुरता असीम है और उनके दर्शन की अभिलाषा महात्माओं को सदैव लगी रहती है। यामुनाचार्य स्वामी अपनी प्रार्थना में कहते हैं—"जिन महात्माओं ने एक बार तेरे आकार के दर्शन करने की अभिलाषा में सर्वोत्तम योग और मुक्ति को तृण कर दिया हैं और जिनका विरह तुझे एक क्षण भर भी दुःसह है, उनकी दृष्टि मुझ पर डाल।"×

भगवत्साकारता

अनन्य भक्त महात्माओं को मायामण्डल से छूटने की लालसा नहीं रहती, उन्हें केवल भगवदाकार के दर्शनों की लालसा बनी रहती है। उस दर्शन से वे कृतकृत्य हो जाते हैं। मायामण्डल तो स्वतः ही छूट जाता है। भगवान् के नित्ययौवनमय दिव्य आकार की सन्निधि पाकर तथा उस छवि को देख कर जिसके अद्भुत लावण्य और दिव्य माधुर्यादि गुण का ह्रास कभी नहीं होता, एक माया क्या अनेक माया दूर भाग जाती हैं। उसी स्वरूप को 'विरजा' के पार' कहा हैं।

रजादि माया के गुण हैं। वे विरजा पर ही विगत हो जाते हैं। इसी से वैकुण्ठनाथ का नाम कहीं-कहीं 'निवृत्तात्मा' और 'निर्गुण' भी आ जाता है। माया तथा उसके गुणों की सीमा विरजा शब्द से सिद्ध होती है। वैकुण्ठ में माया का नाम भी नहीं है। वहाँ इसका कुछ भी बल नहीं पहुँचता। वहां तो माया के स्वामी साक्षात् परमेश्वर हैं जिनकी 'केशव'

× सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणेऽपि ते यद्विरहातिदुःसहः॥

'पुण्डरीकाक्ष' और 'मुकुन्द' भी कहते हैं और जो समस्त कल्याण और गुणामृत के सागर हैं। उनकी छवि ही आनन्द-स्वरूप है।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने भगवान् के विख्यात और गौण एक सहस्र नाम बतलाये थे। उनमें अमृतवपु, दीप्तमूर्ति, द्युतिधर, वराग, बृहद्रूप, महामूर्ति, सच्चिदानन्दविग्रह, शरीरभृत और शान्ताकार आदि नाम भी आये हैं। ये नाम साथक हैं। उस स्वरूप में यह विशेषता है कि उसका कोई माल निश्चित नहीं कर सकता, इसलिए भीष्म ने भगवान् को 'अमेयात्मा' भी कहा है। यावद्विभूति उसी साकार परमात्मा की है। स्वामी यामुनाचार्य अपनी स्तुति में कहते हैं—"जो यह ब्रह्माण्ड है, जो कुछ इस ब्रह्माण्ड के भीतर गोचर है, जो दशोत्तर आवरण है और जो गुण, माया, जीव, परपद और परात्पर ब्रह्म हैं, ये तेरी विभूति हैं।"*

देखने की बात है कि ऊपर 'परंपद' और 'परात्पर ब्रह्म' (चेतनाचेतनविशिष्ट भगवत्स्वरूप जो प्रपंच का शरीरी और अधिष्ठान है) भी उसी साकार स्वरूप की विभूति कहा गया है। धन्य हैं वे मुक्तात्मा जो इस स्वरूप की सन्निधि में पहुँच कर इसके गुणों का अनुभव और विग्रह का कैंकर्य प्राप्त करते हैं। यह स्वरूप सबमें विलक्षण और सबसे ऊँचा है। चार प्रकार का मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) भी इसी विग्रह के सम्बन्ध से है। उस दिव्यरूप से प्रतिष्ठित लोक को प्राप्त करके ही सालोक्य मोक्ष मिलता है, अन्यथा 'सालोक्य' कैसा ? उस रूप (आकार) के समीप पहुँच कर ही सामीप्य मोक्ष प्राप्त होता है। बिना उसके आकार के सामीप्य किसका ? समीप और दूर का भाव बिना रूपाभिव्यक्ति के हो नहीं सकता और उस प्रभु के रूप के बिना 'सारूप्य' मोक्ष कैसा ? उस रूप की अभिव्यक्ति के बिना सायुज्य भी कैसे संभव हो सकता है ?

प्रत्यक्षवादी उसे रूपसम्पत्तिहीन कह सकते हैं, किन्तु सर्वैश्वर्य-सम्पन्न को ऐसा मानना बुद्धि की दोच्यता नहीं तो क्या है ? इस मायामण्डल में निवास करते हुए उस धर्मी को 'इदम्' कह कर समक्ष निर्देश करना संभव नहीं है। भगवद्विग्रह शुद्ध सत्त्वमय होने से लौकिक, त्रिगुणात्मक प्राकृत द्रव्य से विलक्षण है, अतएव अनुपम होने से 'ईदृश' कह कर उसका प्रकार-निर्देश भी नहीं हो सकता। इसी कारण सहस्रनाम में भगवान् का नाम 'अनिर्देश्यवपु' भी आया है। इस शुद्ध सत्त्वमय भगवद्विग्रह को 'पंचोपनिषद्विग्रह', षाड्गुण्यमय विग्रह' 'पञ्चशक्तिमय विग्रह' ऐसे एक-एक निमित्त से प्रतिपादन करते हैं। शुद्ध सत्त्व स्वयं प्रकाश होने से दर्पणान्तरस्थ पदार्थ की भाँति शरीरान्तस्थ आत्मस्वरूप गुणादिक प्रकाशित रहते हैं। इस षाड्गुण्यप्रकाशकत्व के कारण इस 'षाड्गुण्यविग्रह' प्रतिपादन करते है। यह शुद्ध सत्त्व परमेष्टि, पुमान, विश्व, निवृत्ति और सर्व,पांच प्रकार का है। इन पाँचों को पञ्चोपनिषद् एवं पचशक्ति नाम से अभिहित किया गया है। इसलिए भगवद्विग्रह को पञ्चोपनिषद्विग्रह एवं पचशक्तिविग्रह नाम से प्रतिपादित किया जाता है।

---

* यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परंपदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः॥

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी अपने उपदेशों में यही प्रतिपादित किया है कि ईश्वर के दर्शन होते हैं और हम उनका प्रत्यक्ष रूप में मित्रवत् स्पर्श भी कर सकते हैं। वैकुण्ठनाथ के दिव्य मंगल-विग्रह की सन्निधि में पहुँचना ही परम भक्तों और परम भागवतों का मोक्ष है। भगवान् का अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जिसको आजकल प्रायः निराकार शब्द से अभिहित किया जाता है वह तो अब भी (वर्तमान काल में भी) अत्यन्त निकट है और अव्यक्त अधिष्ठान-स्वरूप वह सब जीवों में सदा समरूप में स्थित रहता है, किन्तु इससे सबकी सामीप्य मुक्ति की दशा नहीं कह सकते। देखने की बात है कि वैकुण्ठनाथ के साकार स्वरूप की उपासना ही को तो कल्याण-गुण-विशिष्ट ब्रह्मोपासना कहते हैं और भगवत्प्राप्तिकाम जन इसी उपासना का अवलम्बन करते हैं। फलदशा में उपासना के अनुसार भगवद्गुण ही उनके अनुभव में आते हैं। 'उपासना' शब्द की सांगता-सिद्धि भी भगवान् के साकार स्वरूप से ही है क्योंकि 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। अतएव उपासना शब्द की सार्थकता भगवान् को साकार मानने से (भगवद्विग्रह को स्वीकार करने से) ही सिद्ध हो सकती है। यदि आकार ही न होगा तो 'समीप' और 'दूर' की माप कैसे हो सकेगी ?

भगवान् शब्द की व्याख्या

यह शब्द 'भग' शब्द के साथ 'वतुप्' प्रत्यय के लगने से बना है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यादि छै गुणों का वाचक है और 'वान्' का अर्थ वाला है। इस प्रकार भगवान् शब्द परमात्मा के उस रूप की ओर संकेत करता है जो ऐश्वर्यादि छै गुणों से युक्त है। वे छः गुण ये हैं:—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।* (१) सब पदार्थों के नियमन की सामर्थ्य को 'ऐश्वर्य' कहते हैं, (२) सर्वविरोधिनिरसन-सामर्थ्य को 'वीर्य' कहते हैं, (३) सार्वत्रिककल्याणगुणप्रथा को 'यश' कहते हैं, (४) सदा अपरिमित दान किये जाने पर भी अक्षय समृद्धिमत्व की क्षमता को (योग्यता को) 'श्री' कहते हैं, (५) एक काल में समस्त पदार्थ-विषयक प्रत्यक्षीकरण का नाम 'ज्ञान' है और अवाप्त समस्तकामत्व को 'वैराग्य' कहते हैं। ये छै गुण भगवत्स्वरूप में सदा रहते हैं।

भगवत्स्वरूप की अव्यक्तता और साकारता की संगति

भगवत्स्वरूप का आकार सदैव प्रकट नहीं है, इस आशय से उसे निराकार कहने में कोई हानि नहीं है, किन्तु निराकार से यह आशय ग्रहण नहीं करना है कि उसमें आकार का होना सदैव असंभव है। यह समझना भूल होगी कि अव्यक्त से तात्पर्य साकार से नहीं होता और साकार एकदेशीय एवं अव्यापक होता है। क्या प्रह्लाद की सी दृढ़ एवं अनन्य भक्ति रखने वाले अपने पचास भक्तों को भगवान् अपने चतुर्भुज स्वरूप से एक ही समय में दर्शन नहीं दे सकते ? अवश्य दे सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि व्यापक स्वरूप में केवल निराकारता ही की संभावना और योग्यता हो। यदि ऐसा हो तो यह आकार कहाँ से प्रकट होगा ? यदि साकारता के कारण भगवत्स्वरूप की एकदेशीयता मान लें तो वे एक ही समय अपने अनेक भक्तों के समीप नहीं पहुँच सकते, किन्तु ग्रन्थों में

---

*ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणः॥

अनेक प्रमाण हैं कि भगवान् ने अपने अनेक भक्तों को अविलम्ब एक ही साथ दर्शन दिये हैं। इससे अव्यक्त रूप से व्यापकता सिद्ध है—वह व्यापकता जो साकारता से शून्य नहीं है।

ऐसी बात नहीं है कि भगवान् में दो विपरीत भाव प्रश्रय नहीं पाते। वे दो क्या, लाखों विपरीत भावों के आश्रय हैं। सहस्रनाम में जिनको 'कृश' कहा गया है, उन्हीं को स्थूल भी कहा गया है। उन्हीं के लिए 'अणु' और उन्हीं के लिए 'बृहत्' नाम का प्रयोग भी हुआ है। जिनका नाम 'भयकृत' है, उन्हीं का नाम व्यवहार-भेद से 'भयनाशन' भी है। वे दुरात्माओं के लिए भयकर्ता और भक्तों के लिए भयहर्ता हैं। विपरीत भावों की स्थिति भगवान् का दोष नहीं, गुण है। उन्हीं को 'अविज्ञाता' और 'सहस्रांशु' दोनों नामों से अभिहित किया गया है। प्रपन्न लोगों के दोषों पर दृक्पात न करने से भगवान् को 'अविज्ञाता' कहा गया है, किन्तु सर्वज्ञ होने से उनको 'सहस्रांशु' कहना युक्त ही है। भगवत्स्वरूप में अनेक प्रकार की बातें* संगत बन जाती हैं, इससे सहस्रनाम में उनको 'सर्वलक्षणलक्षण्य.' कहा गया है।

'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा', इस श्रुति-वाक्य में भगवान् का सूक्ष्म अन्तर्यामी स्वरूप प्रमाणित होता है। 'अणोरणीयान्' श्रुति-वाक्य भी भगवत्स्वरूप की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करता है, परन्तु भगवान् के अव्यक्तस्वरूप की महिमा में ऐसा नहीं मानना चाहिये कि भगवान् का स्वरूप केवल छोटा ही है, क्योंकि 'महतो महीयान्' श्रुति-वाक्य से उसका स्वरूप सब से बड़ा भी प्रमाणित होता है। यदि ऐसा न हो तो ये वाक्य नितान्त मिथ्या हों। 'चिदचिद्विभागों में बँटा हुआ यह विचित्र विश्व किसके अयुतायुत कलांश के एक अंश में ही है?'* अथवा 'हर-विरंचि मुख्य हैं जिसमें ऐसा यह प्रपंच किसके उदर में है?'* अथवा 'आपके सिवा अन्य ऐसा कौन है जो आक्रमण करके इस प्रपंच को निगल कर फिर उद्गीर्ण कर दे?'* यह सब वैभव भगवान् के बड़े स्वरूप का है। वह इतना बड़ा है कि उसके लम्बाई-चौड़ाई आदि गुणों का प्रमाप करना भी संभव नहीं है। इसी कारण उसको 'अप्रमेय' कहा जाता है।

'अणीयान्' और 'महीयान्' इन दो गुणों से युक्त ही भगवान् का अव्यक्त स्वरूप नहीं है, अपितु 'अव्यक्त स्वरूप' में 'द्रव्यमात्र के समान' स्वरूप का ही आकलन होता है। इस भाव का स्पष्टीकरण 'कलश-सागर' उदाहरण से किया जा सकता है। यदि समुद्र में एक कलश डाल दिया जाए तो जितना जल कलश के भीतर आ जायेगा उसका आकार कलश के आकार से छोटा होगा, किन्तु कलश से बाहर जो सागर-जल दूर तक भरा हुआ है उसका आकार कलश के आकार से बहुत बड़ा होगा,° किन्तु एक तीसरा आकार द्रव्यमात्र के समान और माना जायगा। जिस प्रकार जल का आकार कलश से छोटा, कलश से बड़ा और कलश के समान मान सकते हैं, उसी प्रकार भगवत-स्वरूप द्रव्य-मात्र से बड़ा, द्रव्य-मात्र से छोटा और द्रव्य-मात्र के समान भी माना जाता है, किन्तु भगवान् द्रव्य-मात्र में पूर्ण-स्वरूप हैं। ऐसी बात नहीं है कि एक द्रव्य

*'कस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम्'।
*'कस्योदरे हरविरिञ्चिमुखः प्रपञ्चः'।
*'क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यकः'
°हाँ, यह उदाहरण अवधिवाले द्रव्य का है भगवत्स्वरूप सावधि नहीं है।

में भगवान् का एक अंश है। इस भूल से कदाचित् सहस्रों द्रव्यों में पूर्ण भगवान् मानने की संभावना होगी और कदाचित् एक-एक द्रव्य में भगवान् के सहस्रांश की कल्पना करनी होगी। जब तक वे एक सहस्र अंश इकट्ठे नहीं होंगे तब तक वह 'अंशी' भगवान् पूर्ण नहीं होगा। जिस प्रकार पचास घंटों में से प्रत्येक को उसके 'घटत्वधर्म' में पूर्ण कहा जायगा अर्थात् यह कहा जायगा कि यह भी घट है, यह भी घट है............और यह भी घट है उसी प्रकार द्रव्य-मात्र के लिए यह कहा जा सकता है कि यह भी विष्णु है, यह भी विष्णु है और यह भी विष्णु है। यह केवल मन की कल्पना नहीं है, इस विषय में श्रुति प्रमाण है:—"ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः + + + + ।" अतएव सहस्र द्रव्यों में से विष्णु का एक-एक अंश इकट्ठा करके, उनको जोड़ कर एक पूरा विष्णु बनाने की बात तो हास्यास्पद होगी। वह प्रत्येक व्यक्ति और द्रव्य में पूर्ण है। हिरण्यकशिपु के स्तंभ में पूरे ही विष्णु थे जो "नृसिंहरूप में प्रकट हुए थे।

'सहस्रनाम' में विष्णु को एकात्मा कहा गया है, इसलिए विष्णु एक ही है; परन्तु उसके अनेक रूप हैं। 'अनेकरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'—आदि वाक्यों से यही तथ्य सिद्ध होता है।

विष्णु भगवान् का एकत्व

प्रत्येक स्वरूप अपने प्रति आप पूर्ण होने के भाव से यदि कोई 'अनेक विष्णु' कहे तो इसमें कोई हानि की बात नहीं, प्रत्युत गौरव है। सहस्रनाम में इस अभिप्राय के भी अनेक नाम हैं, जैसे अनन्तरूप, अनन्तात्मा, नैक, नैकात्मा, अनेकात्मा, अनेकमूर्ति, असंख्य आदि।

अन्यत्र कहा गया है कि वैकुण्ठनाथ का 'पर' स्वरूप माया-मण्डल के परे है और अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जो चेतनाचेतन के भीतर अन्तःप्रविष्ट होकर इस प्रपंच के अधिष्ठान-रूप में प्रतिष्ठित रहता है, मायामण्डल के भीतर है। ये दोनों स्वरूप सर्वथा भिन्न-से प्रतीत होते हैं। यदि विलक्षणता के साथ पाँच व्यवहारों की प्रतीति न होती तो पाँच स्वरूपों का कथन व्यर्थ होता; परन्तु इनमें वास्तव में भेद नहीं है। यदि इनमें भेद की प्रतिष्ठा होती तो भगवान् के स्वयं 'एकोऽहम्' न कहते। 'एकोऽहम्' को स्वीकार करके भगवान् के अनेकत्व की बात ही नहीं उठती। इस विषय में भेद-बुद्धि के निवारण के लिए ही 'तत्त्वमसि' के वाक्य का अनुसंधान किया जाता है। इस महावाक्य में निकटवर्ती मुख्य शरीरी अन्तर्यामी को सम्बोधन करके 'त्वं' (तू) का प्रयोग किया गया है। तत् (वह) से दूरवर्ती का ग्रहण होता है और 'असि' वर्तमान काल की क्रिया है, इसका अर्थ है 'है'। भाषा में इस वाक्य का अर्थ होता है—तू वह (या वही) है। यह अनुसंधान भगवत्स्वरूपों के प्रतीयमान भेद को गला कर अभेद की स्थापना करता है।

भगवदाकार कैसा है, यह तो कोई तभी कह सकता है जबकि मूर्ति बने। शास्त्रों में जहाँ-तहाँ भगवदाकार का वर्णन आया है। यह कहना केवल मिथ्या प्रचार होगा कि वर्णन

भगवदाकार

करने वालों में से किसी ने भी दर्शन नहीं किए। भगवान् के अनेक भक्त और उपासक हो चुके हैं और वेद ने भी उसे 'द्रष्टव्य' कहा है। दर्शन करने वालों के अनेक आख्यान कहे-सुने जाते हैं। ऐसे अनेक आख्यानों का प्राचीन ग्रन्थों में भी प्रसंग और उल्लेख है। विधान करने वालों की बात निर्मूल नहीं है। जो शास्त्रों में

विश्वास करते हैं, वे उनकी बातों को सत्य भी मानते हैं। जो केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, उन्हें भगवद्दर्शनों की चेष्टा करनी चाहिए। दर्शन हो जाने पर भगवदाकार स्वीकार करने की बात तो उचित भी है, किन्तु दर्शन-चेष्टा से पूर्व ही, सत्याग्रह से पूर्व ही दुराग्रह या मिथ्याग्रह करके, भगवदाकार का निषेध कर देना नितान्त अनुचित है। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि भगवद्दर्शन अभी उनके भाग्य में नहीं है। दर्शन से पूर्व दर्शन-चेष्टा उचित ही है। कुछ लोग दर्शन-चेष्टा न करके पहले ही दर्शन को असम्भाव्य मानकर इस मार्ग का बहिष्कार कर देते हैं। उनकी जो रुचि दर्शन में होनी चाहिए वह तो निषेध में लगी रहती है, फिर दर्शन कैसे हो? शास्त्रीय आधार पर ही भगवान् की मूर्ति बनाई जाती है। उसको परंपरा और संस्कारों की अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् की किसी नूतन मूर्ति की भावना को अनुचित तो नहीं कह सकते, परन्तु उसको परम्परा और संस्कारों से उत्पन्न हुई चिरन्तन मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती। भगवन्मूर्ति खुर्पे के आकार की भी हो, क्योंकि भगवदाकार में सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट हैं। एक मूर्तिकार एक ही शिला से हाथी, घोड़ा, मयूर आदि जो चाहे वह बना सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये रूप बाहर से लाये गये हैं। ये अनेक आकार शिला में ही प्रस्तुत हैं, किन्तु अव्यक्त रूप में। जिस आकार के प्रति मूर्तिकार की रुचि हुई उसी को काट-छाँट कर व्यक्त रूप में निकाल लिया। भगवान् का आकार भक्त की निर्मल अनन्य भावना से उत्पन्न होता है।

विचार एवं चिन्तन का स्वातन्त्र्य सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई उक्त सिद्धान्त को मानता है या नहीं, यह हमारी चिन्ता का विषय नहीं है। यदि चिन्ता का विषय होगा तो मुमुक्षुओं के लिए जो पर-स्वरूप का सान्निध्य अथवा कैंकर्य प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि वह (पर-स्वरूप) जो साकार है, उनका अन्तिम लक्ष्य बना है। सुगमता की दृष्टि से साकार ही के कैंकर्य का अभ्यास करना उचित है। साकार पर-स्वरूप की प्राप्ति अभ्यास के लिए सुगम न होने के कारण साकार अर्चा-स्वरूप से अभ्यास करना चाहिए, जिससे फल-दशा (मोक्ष-दशा) में साकार पर-स्वरूप ही मिले। यदि उपाय-दशा में साकार-कैंकर्य का अभ्यास रुचि-पूर्वक न किया जायगा तो फल-दशा में साकार कैसे मिल सकेगा?

भगवद्विग्रह का अर्चन और दर्शन करने वाले इस माहात्म्य को जानते हैं। जगन्नाथजी की सवारी के साथ-साथ दारु-ब्रह्म का दर्शन करते हुए जाने वाले उपासक लोग मुख से बोलते जाते हैं, 'जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे', अर्थात् जगन्नाथस्वामी मेरे नयन-पथगामी हों। स्पष्ट है कि उपासक लोग दर्शन माँगते हैं। अर्चा-स्वरूप जगन्नाथजी के दर्शन तो हो ही रहे हैं, इसका क्या माँगना? फिर भी वे ऐसा माँगते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि वे साकार अर्चा-स्वरूप के दर्शन करते हुए साकार वैकुण्ठनाथ के दर्शन माँगते हैं। इस स्वरूप के दर्शन से उस स्वरूप के मिलने की सम्भावना होने से ही वे उस स्वरूप के दर्शन की याचना करते हैं। यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि उपासकों को वैकुण्ठनाथ के दर्शन ही वाञ्छनीय हैं। अर्चा-स्वरूप उनके ध्यान में नहीं होता, क्योंकि उनकी चेष्टाओं और 'रथारूढोगच्छन्' आदि वाक्यों से अर्चा-स्वरूप का ध्यान स्वयंसिद्ध है।

भगवान् का अर्चा-स्वरूप

उक्त विवेचन से अभ्यास का महत्त्व स्पष्ट है। कई क्षत्रियों को देखा है कि वे दशहरे पर भैंसे की बलि देने के निमित्त डेढ़-दो पाख पहले से नित्य अभ्यास करने लगते हैं। अभ्यास की दशा में वे गीली मिट्टी का भैंसा बना कर उस पर प्रहार किया करते हैं। यदि वे अभ्यास की दशा में निराकार पर खड्ग-प्रहार किया करें तो दशहरे पर उनको सिद्धि नहीं मिल सकती, क्योंकि प्रथम तो निराकार भैंसे पर अभ्यास हो ही कैसे सकता है? यदि वे उन्मत्त की भाँति वायु में खड्ग चलाने भी लगें तो साकार भैंसे की बलि में उन्हें उससे क्या सहायता मिलेगी—उससे उन्हें क्या सिद्धि मिलेगी? अतएव यह कहना उचित ही है कि उनके अभ्यास के अनुरूप ही उनको सिद्धि होगी।

कहना न होगा कि भगवान् प्रेम-स्वरूप हैं। उनकी उत्तम मूर्ति प्रेम के अतिरेक में ही बनती है। प्रेम की बहुलता एवं अनन्यता की दशा में ही प्रिय की मधुर मूर्ति मन के सामने रह सकती है। देश और काल के व्यवधान से प्रेम के लौकिक आलम्बन की मूर्ति तो हमारे मन के सामने हो आ सकती है, किन्तु भगवान् अलौकिक आलम्बन हैं। उनमें यह विलक्षणता है कि अनन्य प्रेमी के मन में उनको मूर्ति के स्थान पर उनका साक्षात् स्वरूप ही उसकी आँखों के सामने आता है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि प्रभु के आकार में सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट हैं। उसको लक्ष्य करके कैसी ही मूर्ति बनाई जाए, उद्दिश्य प्रभु फल-दशा में उद्देश के अधीन अपने अत्यन्त मनोहर स्वरूप में दर्शन देंगे। वह आपके कौशल (शिल्प) को नहीं देखता, वह देखेगा प्रेम को।

अब रही भगवत्स्वरूप को पहले देखने की बात। इस संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि माया-मण्डल में यह बात पहले नहीं हो सकती। यह जीव जो माया-मण्डल में आदि-काल से चला आ रहा है,* एक बार ही वैकुण्ठनाथ के दर्शन होते ही जन्म-मरण-रूप संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है और नित्य विभूति में परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

अर्चा-स्वरूप की विशेषता

अर्चा-स्वरूप में जड़-भाव की प्रतीति से लोगों को संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, किन्तु अर्चा-स्वरूप की विलक्षणता के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। यदि अर्चा-स्वरूप के जड़-भाव से विलक्षणता न होती तो अचेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना में ही जो समस्त जड़ जगत् में ईश्वर को बताती है, यह भाव समानरूप से आ जाता; परन्तु इस अर्चा-स्वरूप को तो भगवान् का पाँचवाँ स्वरूप बताया है। कहना न होगा कि सौशील्य, वात्सल्य, स्वामित्व और सौलभ्य, भगवान् के इन चार गुणों में से 'सौलभ्य' का परिचय विशेषतः इस अर्चा-स्वरूप में हो मिलता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी भगवत्-स्वरूप इतना सुलभ नहीं है जिसको पूजक जब चाहे उठा ले, जब चाहे स्नान करा दे, जब चाहे वस्त्र पहना दे, जब चाहे भोग लगा दे और जब चाहे शयन करा दे। पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी इन चारों स्वरूपों को मानते हुए किसी में भी अर्चा-स्वरूप की सी सुलभता नहीं है।

---

* 'अनादिमायया सुप्तः'

अर्चा-स्वरूप के संबन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि 'सर्वव्यापक' को किसी एक विशेष स्थान में कैसे माना जा सकता है ? क्या ऐसा मानने से उसका महत्त्व संकुचित नहीं होता ? सुनने में तो यह प्रश्न विकट दीख पड़ता है, किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो सर्व-व्यापक है वह किसी भी स्थान विशेष में हो सकता है। यदि वह सर्वत्र है तो स्थान-विशेष पर उसे न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। उस स्थान को उससे शून्य मानना असंगत है। इससे भगवन्महत्त्व संकुचित नहीं होता, प्रत्युत अनेक लोगों की योग्यता को (जो अनेक कारणों से संकुचित रहती है) अपने अनुकूल लाभप्रद भगवत्-स्वरूप मिल जाता है।

यह सब जानते हैं कि हम सब संकेत के अनुसार व्यवहार करते हैं—भोजनालय में भोजन करते हैं, शौचालय में शौच जाते हैं, पाठशाला में पढ़ने जाते हैं और चिकित्सालय में नीरोगता प्राप्त करने के लिए जाते हैं। यह सब व्यक्तिगत व्यवहार को अर्चा-स्वरूप की महिमा है। माना कि भोजनालय, शौचालय, पाठशाला, चिकित्सालय आदि व्यावहारिकता हमारे बनाए हुए ही संकेत हैं, किन्तु प्रत्येक का स्वकीय महत्त्व है। उसी महत्त्व की रक्षा के लिए हमें मर्यादा में चलना पड़ता है। मर्यादा को तोड़ने में व्यक्ति स्वतन्त्र है, किन्तु उत्तमता के मूल्य पर यदि मर्यादा तोड़ कर भोजनालय को कोई शौचालय बना ले तो निकृष्टता अनिवार्य है। इसी प्रकार पाठशाला में चिकित्सा के लिए और चिकित्सालय में अध्ययन के लिए जाना निष्फल एवं व्यर्थ होगा। यह कहा जा सकता है कि पाठशाला में चिकित्सा की सामग्री और चिकित्सालय में पढ़ने की सामग्री का अभाव ही असफलता का कारण होगा, किन्तु सर्वव्यापी होने के कारण भगवान् का अभाव कहीं नहीं हो सकता। बात तो ठीक है, किन्तु हम लोग 'एकदेशीय व्यक्ति' और 'संकुचित ज्ञान वाले' हैं, अतएव सर्वत्र समान व्यवहार करने के योग्य कहाँ हैं ? केवल कहना और बात है और आचरण और बात। मर्यादा संकेतों के बिना सब काम नहीं चल सकते। यदि कदाचित् सब काम यों ही सुगमता से चल जाते तो भगवान् को यह आवश्यकता ही न होती कि वे पार्थ को (गीता में) 'व्यक्तिगत व्यवहार' बतलाते। फिर वे क्यों आज्ञा करते कि 'नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं ही हूँ, धातुओं में सुवर्ण मुझे ही समझो, वृक्षों में पिप्पल मुझे मानो, और मनुष्यों में राजा को मेरा स्वरूप समझो।' यह व्यक्तिगत व्यवहार नहीं तो क्या है ? यह मनुष्यों के कल्याण के लिए है। ईश्वर सब नक्षत्रों, सब धातुओं, सब वृक्षों और सब मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान है। फिर भी श्रीकृष्ण ने व्यक्तिगत व्यवहार का उपदेश किया है जो परिमित व्यक्ति-योग्यता के अनुरूप ही है।

याद रहे कि भगवान् के असंख्य गुणों में से जितने मूर्ति दर्शन से स्मृतिगत होते हैं उनके कारण वही साकार संकेत हैं जो मूर्ति में रहते हैं। कहना न होगा कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा ही जीवों के ध्यान को साकार-संकेतों के साथ-साथ भगवद्गुणों पर जाने की योग्यता प्राप्त होती है क्योंकि भगवान् में अनन्त कल्याण-गुण व्यष्टि-रूप में विद्यमान हैं जिनको समष्टि रूप से गुणी के आकार-सहित बोध कराने वाला यही (अर्चा) स्वरूप है। कवि ने ठीक ही कहा है कि "जिसके पास जैसी वस्तु

मूर्तिद्वारा संकेत

होगी तदनुरूप ही मन हो जायगा चाहे परीक्षा करके देख लो : माला हाथ में होने पर भगवन्नाम लेने को मन होगा और गिलोल हाथ में होने पर किसी पर निशाना लगाने को मन होगा।''* देखने की बात है कि आपकी बनाई हुई और आपका ही प्रतिष्ठा की हुई भगवान् की मूर्ति आपके मन को अन्यत्र न ले जाकर भगवान् में लगाती है।

मूर्ति-दर्शन से ऐसे लोगों का भी मन, जो मूर्ति को काष्ठ या पाषाण मानते हैं और निन्दा करते हैं,-भगवान् की ओर चला जाता है। यदि उनका मन उस ओर नहीं जाता है तो

मूर्तिद्वारा मन का संग्रह

वह निषेध वा खण्डन किसका करते हैं ? चित्त संकेत के साथ लक्ष्य पर ही जाता है, किन्तु उत्तम संस्कार बिना उत्तम भाव नहीं हो सकता। क्या उत्तम भाव से पूजन करने वाले इस बात को नहीं जानते कि मूर्ति काष्ठ-पाषाण की है ? अवश्य जानते हैं, परन्तु भगवान् 'जगतः सेतु' की उनके प्रति अनुकूलता है। इससे उनकी दृष्टि भगवान् की ओर जाती है। जिनके संस्कार दूसरे प्रकार के हैं उनका चित्त काष्ठ-पाषाण की भट-भीड़ में उलझ कर संकेतनीय की व्यापकता को ग्रहण नहीं कर पाता।

दैनिक अनुभव की बात है कि 'लीलानुकरण' के प्रेमी लोग अर्चा-स्वरूप से कितना लाभ उठाते हैं। वल्लभकुल की मर्यादा के अनुपालक वात्सल्य भाव से भगवत्सेवा करते हैं।

मूर्ति और लीलानुकरण

जिस पुत्र-भाव से नंद-यशोदा ने ईश्वर के साथ प्रेम किया था, वे भगवान् की मूर्ति की सेवा द्वारा अपने में उस भाव की पूर्ति करते हैं। इस भाव में मग्न होकर वे अलौकिक आनन्द लूटते हैं। माता-पिता जानते हैं कि पुत्र कितना प्यारा होता है। कभी मन चाहता है कि लाल को स्नान कराके टोपी पहनावें, कभी यह विचार करके कि देर से कुछ खाया नहीं है इसे कलेवा करावें, कभी खेलने के लिए खिलौना देने का विचार होता है और कभी अतिकाल से होने वाले कष्ट का ध्यान करके उसे रात्रि में समय पर सुलाने की व्याकुलता होती है। इस प्रकार अपने पुत्र में संचार करने वाले वास्तविक प्रेम को नारायण में निहित करने के लिए उपासक-जन बालभाव की उपासना करते हैं और बालकृष्ण की मूर्ति द्वारा उसकी अनेक प्रकार की सेवा से परम सुख के भागी होते हैं। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त लोग 'प्रिया-प्रिय' के युगल स्वरूप की उपासना करते हैं। इस पद्धति के प्रेम में शृंगार रस के मधुर प्रवाह की अनुपम छटा छलकती रहती है। उसके एक अंग की झाँकी श्री जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलती है। रसखान का यह सवैया भी उसी रस से पूर्ण है :—

ब्रह्म मैं ढूँढ़ि पुरानन गानन वेद ऋचा पढ़ि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कबहूँ वह कौन स्वरूप है कैसे स्वभायन॥
हेरति हेरति हारि परी रसखान बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुरयौ वह कुंज-कुटीर में बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन॥

---

*जैसी जापै वस्तु है, तैसा ही मन होय।
माला और गिलोल को कर ले देखौ कोय॥

भगवान् का अर्चा-स्वरूप उपासना एवं पूजा की वस्तु है। भगवान् की उपासना के लिए पूजा-भाव अनिवार्य है। पूजा सम्मान को कहते हैं। जिसकी मूर्ति पूजी जाती है, स्पष्टतः उसका सम्मान हमारे हृदय में निहित है। सम्मान का फल सम्मान्य की प्रसन्नता है। कहा जाता है कि किसी राज्य में कोई पुरुष वहाँ के राजा की मूर्ति बनाकर उसको एक सुन्दर स्थान में सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर बड़े प्रेम से उसका नित्य पूजन करने लग गया। कुछ काल के अनन्तर राजा को विदित हुआ तो राजा स्वयं उसको छिप कर देखने आया और उसकी अगाध भक्ति को देखकर वह दंग रह गया। वह उसके भाव में अपना सम्मान पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसके नाम गाँव का पट्टा कर दिया। उसने यह तनिक भी विचार नहीं किया कि मूर्ति उसकी सच्ची प्रतिकृति थी भी या नहीं। जब लौकिक प्रेम की यह करामात है तो अलौकिक प्रेम का तो कहना ही क्या? यदि सर्वज्ञ करुणानिधान अपनी पूजा से प्रसन्न होकर स्वलोक (वैकुण्ठ) में बुलावें तो असम्भव क्या है? हाँ, उनके प्रति पूजा-भाव दिखावटी नहीं होना चाहिए, वास्तविक होना चाहिए।

पूजा की अमोघता

द्वितीया का चन्दा दिखाने वाले कहा करते हैं—'चन्दा सामने दीख रहा है। उस नीम की टहनी पर देखो।' वास्तव में वह उस टहनी पर नहीं है। उससे सहस्रों मील दूर है, किन्तु टहनी के सम्बन्ध से वह दृष्टिगोचर हो जाता है। इसी प्रकार मूर्ति भगवान् के मिलाने का साधन है। साधन के अभाव में साध्य का विचार क्लिष्ट-कल्पनामात्र है।

इसमें सन्देह नहीं है कि भगवान् का साकार स्वरूप अति उत्कृष्ट है। ऊँचे-से-ऊँचा काम उसी से सम्पन्न होता है। अग्नि सर्व-व्याप्त है। इस जगत् के एक-एक परमाणु में वह अव्यक्त रूप से रहती है, किन्तु अनेक व्यवहारों में अव्यक्त अग्नि से काम नहीं चलता। जब दियासलाई के रगड़ने से अग्नि का साकार रूप प्रगट होता है तो तिमिर-तोम का निवारण होकर अनेक अन्य कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सच्चे प्रेम की दियासलाई रगड़ने से प्रभु अपना साकार रूप प्रकट करते हैं। जो कृतकृत्यता प्रभु के व्यक्त रूप से संभवनीय है, वह अव्यक्त रूप से नहीं।

साकार रूप की उत्कृष्टता

कुछ लोगों का यह कहना भी है कि मूर्ति में ईश्वर-बुद्धि रखने की अपेक्षा जीवित मनुष्य में रखना कहीं अच्छा है, इस कथन में कोई त्रुटि नहीं है। अनेक धर्मों में गुरु में ईश्वर बुद्धि रखने की बात का भी यही अभिप्राय है। जिनकी गुरु में ईश्वर-बुद्धि स्थिर हो जाती है, वे परम धन्य हैं, किन्तु अर्चा में कुछ और बातों की आवश्यकता भी होती है। उनकी पूर्ति काष्ठ, पाषाण आदि द्वारा हो जाती है। काष्ठपाषाणादि में यह योग्यता है कि अनेक उपासक अपनी-अपनी भावना एवं रुचि के अनुसार उनकी ठीक-ठीक मूर्ति बनवा कर पूजन कर सकते हैं। विशेषता की बात यह है कि अनेक पूजकों के प्रति मूर्ति की ओर से कोई व्यावहारिक वैषम्य सम्भव नहीं है, किन्तु मनुष्य के व्यवहार में समभाव के विचलित होने का भय रहता है। आज

मूर्ति-पूजा और मनुष्य-पूजा

किसी मनुष्य के प्रति ईश्वर-बुद्धि आप रख सकते हैं। कुछ समय तक आपका प्रेम प्रिय के गुणों को पकड़ कर वृद्धि कर सकता है, किन्तु प्रतिकूल चरित्र देखने पर प्रिय के प्रति ग्लानि को जन्म मिलना कठिन नहीं है। तब प्रेम घृणा में परिवर्तित हो जाता है। घृणा के साथ-साथ ईश्वर-बुद्धि का निर्वाह कैसा ? अतएव मानव में ईश्वर-बुद्धि रखने पर उक्त अनिष्ट की सम्भावना है, किन्तु मूर्ति (पाषाणादि की मूर्ति) में उसकी किंचित् सम्भावना नहीं है।

भोगादिक की आवश्यकता

उपासक लोग यह जानते हुए भी कि मूर्ति कुछ खाती नहीं है और न ईश्वर उनके भोग पर ही निर्भर है, भोगादि की आयोजना करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ईश्वर-भक्तों का सेवा-स्वरूप होता है। उनका लक्ष्य स्वामिकैंकर्य में पूर्णतः प्रवृत्त नहीं होता तो उसका दासत्व कैसा ? दासत्व-भाव का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि स्वामिकैंकर्य में तभी प्रवृत्त होना चाहिए जबकि स्वामी को उसकी इच्छा हो। स्वामी के उदासीन होने पर भी जो सेवा करता है, सच्चा सेवक तो वह है; अन्यथा यथार्थ कैंकर्य में न्यूनता के कारण किंकर के स्वरूप में न्यूनता आती है। प्रभु तो 'अवाप्तसमस्तकाम' है। उनकी कोई ऐसी वाञ्छा नहीं है जिसकी तृप्ति अवशिष्ट हो। सोचने की बात है कि जिसके उदर में अनेक ब्रह्मांड प्रस्तुत हों उसकी क्षुधा-निवृत्ति हमारे चढ़ाये हुए आध सेर पक्वान्न से क्या कभी हो सकती है अथवा जिसके भय से अनेक सूर्य तपते रहते हैं उसके लिए हमारे जलाए हुए एक छोटे से दीपक का क्या महत्त्व हो सकता है ? ईश्वर के अप्रमेय ऐश्वर्य में व्यक्तिगत उपहार की तुच्छता स्वयंसिद्ध होते हुए भी, दास-स्वरूप की योग्यता के रक्षण में उसका अवमूलन (Uudervaluing) नहीं किया जासकता क्योंकि भगवान्‌के करुणा-स्वरूप की संगति में उपहार का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य है उपहार की अमद एवं परिपूर्ण भावना का। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' आदि से भगवान् कृष्ण ने स्वयं 'भाव की उत्कृष्टता' का प्रतिपादन किया है। भाव के भूखे भगवान् अपने भक्त के वश में केवल भाव के कारण रहते हैं, उपहार के कारण नहीं।

जब हम मूर्ति के सामने भोगादिक निवेदन करते हैं तो हमारा अभिप्राय पाषाण को भोग समर्पित करने का नहीं है। यदि काष्ठ-पाषाण का पूजन करते तो मूर्ति के सामने हाथ जोड़ कर ऐसा न कहते कि 'आप सर्वेश्वर हो, सर्वान्तर्यामी हो, करुणानिधान और सर्वज्ञ हो', अपितु यह कहते कि 'आप अमुक पर्वत की शिला हो, अमुक वृक्ष की लकड़ी हो, आपको शिल्पी या बढ़ई ने बड़े श्रम से बनाया है,' इत्यादि। सच तो यह है कि अर्चावतार भगवान् के पूजन को 'मूर्ति-पूजन' कहना आजकल की बोल-चाल है। वस्तुतः तो यह मूर्ति में ईश्वर का पूजन है। मूर्ति को अचेतन मानने पर भी उसे भगवद्विग्रह से अलग नहीं कर सकते, क्योंकि अचेतन भी तो भगवान् ही का शरीर है और शरीर की सेवा से शरीरी को प्रसन्नता हुआ ही करती है। अर्चा-स्वरूप जड़ के भेद में ही नहीं, अजड़ के प्रत्येक भेद में परमात्मा कहा गया है। उसके पांच स्वरूपों में से यह एक है। उसके प्रताप से अपने 'दासत्व' का निर्वाह इस प्रकार होता रहता है कि 'भोग पहले स्वामी को लगे, पीछे दास को; सुगन्धित द्रव्यादि सुख-सामग्री पहले स्वामी को

समर्पित हो और पीछे अवशिष्ट दास को। यह योग्यता भगवान् के अर्चा-स्वरूप मे काष्ठ-पाषाण-बुद्धि करने से बिगड जायगी। भगवान् पाँच स्वरूपो मे से पर, व्यूह और विभव-स्वरूप तो सदैव लोगो के सामने आने से रहे और अन्तर्यामी को स्वामी मान कर व्यक्तिगत सेवा करने मे लोगो का प्रेम नही है। अब रहा भगवान् का अर्चा-स्वरूप इसी अर्चा 'भगवान् जगतः सेतु' मे नित्य-सौलभ्य गुण विद्यमान है। यही एक ऐसा स्वरूप है जिसकी सेवा उपासक अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है। यदि कदाचित् इसी मे दुर्भाव हो जाए तो फिर रहा ही क्या ? बड़ी हानि होगी। इस पुल के आश्रय से अद्यपूर्व अनन्त जीव पार उतर गये हैं। इसके बिना पार उतरना बडा कठिन है। मनुष्य शरीर बडे भाग्य से मिलता है। इसको पाकर यह उचित नही है कि अभूत और असम्भव भ्रमो की कल्पना कर पुल के आश्रय को छोड दिया जाए।

भगवान् की मूर्ति को लगाया हुआ भोग व्यर्थ नहीं जाता। पूजक और अन्य लोग श्रद्धापूर्वक उसे प्रसादरूप मे प्राप्त करके तृप्ति-लाभ करते है। जगदीशपुरी आदि तीर्थों मे भगवद्भोग का विशाल आयोजन किया जाता है। उसे व्यर्थ ढकोसला कहना व्यर्थ है। प्रत्यक्षतः वह पुण्यक्षेत्र उस भोग के प्रताप से बना हुआ है। भोग मे व्यावहारिक पक्ष की सफलता को देख कर उसके माहात्म्य की विलक्षणता को अस्वीकार नही किया जा सकता। उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि दीन-क्षुधार्तों को मूल्य-बिना या थोड़े मूल्य मे ही क्षुधा-निवृत्ति के लिए समुचित भोजन मिल जाता है। थोडे-से पैसो मे भात की पत्तल या हँडिया खरीदते हुए यात्रियो की आँखो से भी भोग के माहात्म्य की विलक्षणता नहीं हटती। भोग की जो मर्यादा लाखो क्या, असंख्यो दीन-दुखियो की प्रचण्ड जठराग्नि के प्रशमन का साधन हो, उसको—अन्न-दान की उस मर्यादा को-व्यर्थ, निष्फल आदि विशेषणो से विमानित करना अनुचित है

मूर्ति-प्रतिष्ठा से लौकिक लाभ

मंदिर मे भगवद्दर्शन अथवा कैंकर्य के निमित्त जो लोग आते हैं वे पट खुलने से पहले जितनी देर वहाँ ठहरते है, बडी उत्तमोत्तम बाते करते हैं। वहाँ कही हुई बातो का गहनांकन उनके स्मृति-पटल पर हो जाता है। वहाँ कही हुई वाणी को वे कर्म मे प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। मंदिर मे घुसने पर परिक्रमा देते है जो स्वास्थ्य के लिए हितकर सिद्ध होती है। अर्चा, दर्शन और स्तुतिकाल में मनुष्य सांसारिक उपद्रवों से मुक्त रहता है। जल, धूप, चंदन, अगरबत्ती, पुष्प आदिक से रहने वाली शुद्धता का भी उपासक लोग लाभ उठा लेते है।

भगवान् की सवारी निकालने और उत्सव आदि मनाने से लाभ

भगवत्परिचर्या मे उपासक लोग (किंकर लोग) जो कुछ करते हैं वह कैंकर्य-भाव से करते हैं, अपने लिए नहीं करते हैं। यह सत्य है कि संसार मे कर्म-जाल सबसे विकट है। इसके भेद की ग्रन्थि सहज ही मे खुल कर, जिन उत्सव-चरित्रो द्वारा दास लोगो के चित्तो पर कर्म-समर्पण का भाव ठीक-ठीक जमा रहे, वे चरित्र अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं। भगवदधिष्ठानपूर्वक ऐसे उत्सवादि न करने से ये भाव कैसे जम सकते हैं ? कहना न होगा कि उत्तमोत्तम भावो के अर्जन में अर्चा-स्वरूप ही सहायक है। न तो हम सब उपासक ही जड हैं और न उपास्य परमात्मा ही जड है। वह अन्तःकरण के प्रेम के अनुरूप सदैव फल

देता रहता है। यह जानते हुए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा वैकुण्ठनाथ की प्राप्ति अनेक प्रकार से होती है। इस विषय में शास्त्र सहायक है। वेद-वाक्य है —"हरिः ओ३म् मुमुक्षुर्वै प्रतिमायां दारुमय्यां प्रस्तरमय्यां धातुमय्यां पूर्णां देवता-मावाहयेदर्चयेन्निवेदयेत्तन्निवेदितमन्न भुञ्जीयात् तस्यैतद्वृत्तं सोऽश्नुते सर्वान् भोगान् प्रजया पशु-भिर्ब्रह्मवर्चसे न सर्वगणलोकेन।" "अर्चा-स्वरूप के बिना पाद-सेवन और अर्चन (जो भक्ति के अंग हैं) का निर्वाह संभव नहीं है। अर्चा-स्वरूप के सेवन से साकार स्वरूप का सामीप्य होता है, ऐसा कहा गया है। इसमें उपासना नाम की संगति है। 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। यह समीप बैठना साकार स्वरूप के बिना संभव नहीं है। वह साकार स्वरूप साधन-अवस्था में 'अर्चा' है और साध्य अवस्था में श्रीवैकुण्ठनाथ हैं। अर्चा-स्वरूप के समर्थन में भीष्मजी का यह निर्णय है—"मेरी राय में सब धर्मों में अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य सदा अनेक स्तवों से भक्तिपूर्वक श्री पुण्डरीकाक्ष का अर्चन करे।"* भीष्म जी के इस वाक्य में 'पुण्डरीकाक्ष' और 'नर' शब्द आया है। 'परमधाम, नित्य अक्षर और अव्यय को पुण्डरीक कहते हैं।"** वहां पहुँचते हुए जीवों को जिस साकार दिव्य मंगल-विग्रह के दर्शन होते हैं, उसको पुण्डरीकाक्ष कहते हैं। 'नर' शब्द सामान्य मनुष्य का बोधक है। सामान्य मनुष्य सदा वैकुण्ठनाथ का अर्चन कैसे कर सकते हैं। वे तो माया-मण्डल में स्थित हैं इससे यह अभिप्राय है कि पर-स्वरूप और अर्चा-स्वरूप का सदैव इतना अभेद समझे रहना चाहिए कि अर्चा-स्वरूप की सेवा करने से अवश्य ही वैकुण्ठनाथ मिलेंगे। ये दोनों ही स्वरूप साकार हैं। एक साधनावस्था में प्राप्य है और दूसरा साध्यावस्था में।

एक उत्सव में भांड अपनी लीला दिखा रहे थे। उनमें से एक ने गाया—"इलाही तूने हसीनों को क्यों किया पैदा, कि इनकी जात से दुनिया में इन्तजाम नहीं।' अर्थ स्पष्ट है कि

रूप-माधुरी और उसका उचित उपयोग

'रूप-सौन्दर्य के क्षेत्र में प्रबन्ध (नियंत्रण) दुःसाध्य है। सुख की उन्मत्त दशा आ जाती है।' फिर क्यों नहीं भगवान् की मनोहर मूर्तियों द्वारा माधुर्य-भाव की उपासना को स्थिर रक्खा जाए? रूप-सौन्दर्य में ऐसी शक्ति है कि आंखें टकटकी लगाए रह जाया करती हैं। निरखते-निरखते अघाती नहीं। जिनकी आँखों में रूप-माधुरी समा जाती है उनको लोग 'हुस्नपरस्त' या 'माधुर्योपासक' कहा करते हैं। माधुर्य-भाव 'मधुर' के प्रति होता है। 'मधुर' विशेषण है जो विशेष्य की अपेक्षा रखता है। विशेष्य के विशेषण का लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है। निर्झरिणी की प्रपात-शक्ति का सदुपयोग ही कल्याणकारी होता है। उसका दुरुपयोग भी हो सकता है, किन्तु वह विनाशक होगा। अनुकूल रेलगाड़ी में बैठ कर यात्री अभिगम्य स्थल पर पहुँच कर रहेगा, किन्तु प्रतिकूल रेलगाड़ी उसे उस स्थल से निरन्तर दूर ही लेती चली जायगी।

---

*एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥

** पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षरमव्ययम्।
तद्भवान्नामधिभूत पुण्डरीकाक्ष हरिः॥

यदि रेलगाडी का सदुपयोग करना है तो उसके आनुकूल्य से काम लेना होगा। आनुकूल्य यथार्थ का साधक है और प्रातिकूल्य बाधक। माधुर्योपासकों की साधना मानुषी रूप पर टूट पड़ने का अभ्यास कराती है। यही उनकी साधना का प्रातिकूल्य एवं दुरुपयोग है - अयथार्थ की सिद्धि है। उसे श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर लगा कर देखो। कितना शीघ्र बेडा पार होता है।

यो तो नारायण, पुण्डरीकाक्ष, चक्रपाणि के अनन्त रूप हैं, परन्तु उनमे सौन्दर्य-सीमा (विभव-कोटि मे) श्रीराम और श्रीकृष्ण ये दो ही है। इनमे भी अमर्याद प्रेम-पाश से आकर्षण करने की शक्ति श्रीकृष्ण-रूप में ही विशेषता से पाई जाती है, उन श्रीकृष्ण के रूप मे जिनको त्रिभंगीलाल नटनागर, बनमाली बाँकेबिहारी, मदनगोपाल, रसिकविहारी और वशीधर आदि छबीले (शोभन) नामो से बोलते है। और जो गोविन्द, पार्थसारथी, यशोदानन्दन, राधाबल्लभ और वेणुगोपाल आदि नामो से प्रसिद्ध हैं। जिनमे परकीया भाव तक की उपासना भी चलती है तथा जिनमे उपासक लोग अद्भुत-अद्भुत भाव अर्पण करते हैं। कोई कहता है, "हे जगदीश! मैं आपको भेंट देना चाहता हूँ, परन्तु जिस वस्तु का आपके पास अभाव हो वह देना अच्छा है, किन्तु अभाव तो आपके पास किसी वस्तु का दीखता नहीं है। हां, एक मन का अभाव अवश्य हो सकता है क्योंकि उनको तो राधा ने चुरा रक्खा है, इसलिए हे यदुनन्दन! मै वही मन अपको भेट करता हूँ उसे स्वीकार कीजिए" : कोई कहता है—"हे दीनदयालु! मै तो टेढी बातें ही करूँगा और कुटिलता नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि आप टेढी टाँग वाले, तीखे नेत्रवाले, और मोर-मुकुटवाले त्रिभंगीलाल है। सीधे हृदय में आप कैसे निवास करोगे? दुःख पाओगे।" कोई कहता है—"हे नन्दलाल! चोर अपने छिपाने को अँधेरा खोजा करता है, आपने दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी कर के चोर-पदवी धारण की है और जैसा घोर अन्धकार मेरे मन में छा रहा है वैसा अन्यत्र न मिलेगा। फिर इसमें आकर क्यो नहीं छिप जाते हो?" कोई कहता है—आप गोपाल हो! आपके पास बहुत दूध मिलेगा, यह सोच कर मैं आपकी शरण मे आया हूँ, किन्तु यहाँ तो कुछ उलटी बात ही दीख पडती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि माँ का दूध भी आगे न मिल सकेगा।" ऐसे ही अनेक भावो को भक्त कृष्ण को अर्पित करते हैं जिनमें सब प्रकार के प्रेम-भाव समा जाते हैं। कालिन्दी-कलकन्दुक-क्रीडारत कदम्ब-केलिकर, कालीय-कन्दन, कंस-निकन्दन क्लेश-निवारक, कुसुम-सुकुमार-हास कृपाल कृष्ण से विशेष लीला-रूपवान् कोई कलेवर नहीं है। उनके लावण्य से असंख्य कामदेव लज्जित होते हैं। वे अभिनव-जलधर-सुन्दर हैं। रूप-सौन्दर्य की अत्यन्त वेगवती सभी नदियाँ कृष्ण-रूप-माधुरी के सागर मे विलीन होती हैं। उनकी छवि-माधुरी को निहारते-निहारते मन कभी तृप्त नहीं होता। उनकी लीला (कृति-गति) मे एक अद्भुत मोहन-मंत्र है।* राधा ने उसी मोहिनी मूर्ति पर सर्वस्व अर्पण कर दिया था। इसी से उनको अपूर्व पद मिला है। इस तथ्य को भारतेन्दुजी ने इस प्रकार गाया है—

---

*किसी शायर ने क्या ही अच्छा कहा है—
क्यों इस अदा से आये कि प्यार आ गया मुझे ?
यह आपका कसूर है, मेरी खता नहीं।

"जय वृषभानु-नन्दिनी राधा,
शिव ब्रह्मादि जासु पद-पंकज
हरि-वशहेतु अराधा"

राधा की प्रतिष्ठा कृष्ण की शक्ति के रूप में हो चुकी है। राधा की चरण-रज की सरसता, सुखदता, लोकपावनता और वशकारकता की प्रशंसा करते हुए अलवर के जयदेव कवि कहते हैं—

"ब्रह्मरुद्र भीषम वसिष्ठ शुक नारदादि साधत अखंड भक्ति सुख सरसावनी।
तेऊ जाहि सहसा निहारि न सकत क्योंहू जोगिन दुराय ज्योति जाकी जगपावनी॥
कवि जयदेव भनै ताही परब्रह्म काज सद्य वशकारक है भुरकी सुहावनी।
धारि रही ऐसी अति अद्भुत अनन्त शक्ति राधे पद-पंकज की रज मनभावनी॥

कृष्ण की रूप-माधुरी से मंत्र-मुग्ध स्नेह-नगर में सरे-श्राम लुटती हुई गोपियाँ चौथ के चन्दा से कहती हैं—"तुम्हारे दर्शन करने वाले को कलंक अवश्य लगता है। तुम्हारी यह कीर्ति सुन कर ही हमने तुम्हारे दर्शन किये हैं। हमें श्रीकृष्ण का कलंक अवश्य लगना चाहिए।" कृष्ण-प्रेम के मद में उन्मत्त गोपियाँ कहती हैं—"चाहे सब वान्धव परित्याग कर दें, अथवा गुरु-जन निन्दा करें, तो भी मेरे जीवन तो परमानन्द गोविन्द ही रहेंगे।"×

अन्यत्र गोपी कहती है कि—"मेरा मन कृष्ण के चरणाविन्द से एक क्षण भर के लिए भी निर्वतित नहीं होता है, प्रेमधर-अनुराग मुझे ऐसा मत्तायमान कर दे कि मुझे चिन्ता न हो। चाहे प्रिय वान्धव निंदा करें, गुरुजन ग्रहण करें या परित्याग करें, लोग दुर्वाद परिघोषित करें और चाहे वंश को कलंक लगे।"×

कृष्ण ने इसी प्रेम का परिचय प्राप्त करके गोपियों के साथ कैसी-कैसी लीलाएँ की हैं, यह भागवत के पाठकों से छिपा नहीं है।

इस सब कहने का आशय यह नहीं है कि राम की रूप माधुरी और मोहन-शक्ति कृष्ण से कुछ कम है। अपने-अपने ढंग से दोनों ही अद्वितीय हैं। रघुनन्दन कर्तव्यपरायणता और धर्म-मर्यादा की प्रतिमूर्ति हैं। उनसे बढ़ कर सदाचार का आदर्श और किसी को नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्ण भी स्वयं प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम-पाश डालने में अद्वितीय हैं। राम दाना है, कृष्ण मस्ताना है जिन्होंने किसी को अपनी छवि-माधुरी में फँसा लिया, किसी को वंशी से मोह

× "त्यजन्तु वान्धवाः सर्वे निन्दन्तु गुरवो जनाः।
तथापि परमानन्दो गोविन्दो मम जीवनम्।"
चित्तं नैव निवर्तते क्षणमपि श्रीकृष्णपादाम्बुजात्।
निन्दन्तु प्रियवान्धवा गुरुजना गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा।
दुर्वादं परिघोषयन्तु मनुजा वंशे कलंकोऽस्तु वा।
तादृक् प्रेमधरानुरागमधुना मत्तायमानन्तु मे॥

लिया, किसी पर अपने सरस चरित्रों का जादू कर दिया और किसी को ऐसा उन्मत्त बना दिया कि उसने अपनी सुध-बुध भूल कर पैरों के वस्त्राभूषण सिर में और सिर के पैरों में पहन लिये। लोक-लज्जा हवा हो गई। ऐसे इन्द्र-जाल के आकर में मर्यादा की खोज करना व्यर्थ एवं मूर्ख-प्रयास है।

जगत् में दो भाव प्रधान रूप से विलसित हैं—प्रेम और घृणा। प्रेम दो व्यक्तियों के बीच की दूरी को मिटा कर समीप कर देता है और घृणा सान्निध्य को मिटा कर दो व्यक्तियों को दूर कर देती है। कृष्ण प्रेम-स्वरूप होने से आकर्षण करते हैं। जीवों का भगवद्दासत्व सिद्ध है, परन्तु वे प्रायः प्रेम के आचरण से तथा वैकुण्ठनाथ की प्राप्ति से दूर रहते हैं। उनको कृष्ण अपनी रूप-माधुरी, वंशी-ध्वनि, अथवा रसिक-चरित्रों से प्रेम-मुग्ध कर के अपनी ओर खींच लेते हैं। ध्यान देने की बात है कि भगवान् का सौशील्य गुण भी (जो उनके चार गुणों में से एक है) विशेषतः नन्द-नन्दन ही के चरित्र में चरितार्थ होता है। बड़े का छोटों का साथ अभेदभाव से मिलना ही तो सौशील्य है।× इस सौशील्य को कृष्ण के प्रेममय चरित्र में इस प्रकार देख सकते है कि इधर तो "कृष्ण स्वयं भगवान् हैं"÷ और उधर नन्द गोपमात्र है। यह उनका सौशील्य है कि वे नन्द गोप के आत्मज होकर अवतीर्ण होते है।+ उनमे अभेद भाव से मिलते हैं कि कोई अन्तर नही रखते। यही बड़े का छोटे से निरन्तर होकर मिलना है। यही उनका सौशील्य है।

किन्तु राम के स्वरूप में यह रहस्य-भाव अंगीकृत नही हो सकता, क्योंकि उनका स्वरूप मर्यादा का है। इस भाव का उस स्वरूप मे अंगीकृत होना स्वरूप-विरुद्ध है। राम शील-निधान हैं और कृष्ण प्रेम-निधान। भक्त कृष्ण की मधुर छवि मे, उनकी लीलाओं मे प्रेम की कोई कला न्यून नही देखते। उनके विचार में दाम्पत्य (पति-पत्नी) प्रेम भी प्रायः इतना उन्मादक नही है। वे ऐसी नायिका का भाव भी ग्रहण करते हैं जो अपने इष्ट (प्रिय) के साथ प्रेम करती है, जिसे अपने माँ, बाप और पति के विरोध की चिन्ता नहीं है, एवं जिसने 'कुल-कान और लोक-बन्धन को तोड़ डाला है। प्रेम का स्वभाव है कि इसके निःसंकोच संचार मे जितनी बाधाएं समुत्पन्न हो उतना ही तीव्र होता है। इसके अतिरेक का परिचय यह है कि इसके मार्ग में जितने कष्ट आते है वे सब सुख-पूर्वक सह लिये जाते हैं। जितनी बाधाएँ इसके प्रवाह-पथ में उपस्थित होती हैं वे सब इसके वेग मे टूट जाती हैं। बाधाओं को तोड़ कर जो प्रेम अपना मार्ग निर्मित करता है उससे उसकी शक्ति बढ़ती है। लोक-लज्जा, गुरुजन-उपालंभ तथा लोक-निन्दा का भय आदि बाधाएँ हैं। इनको वही तोड़ सकता है जिसका मन केवल अपने प्रिय मे लीन हो, जिसकी अनन्य 'लगन' हो ऐसी कि उसके आगे अन्य सब भाव तुच्छ हो जाएँ।

× "महतो मन्देस्सह नीरन्ध्रेण संश्लेषः सौशील्यम्।"

÷ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

+ "नन्दगोपप्रियात्मज,"

पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो स्निग्ध है, किन्तु उसमें प्रणय-कोप के लिए अवकाश प्रायः नहीं होता। रसिक लोग इसकी विलक्षणता का अनुभव परकीया-भाव में करते हैं। गहनता के साथ-साथ परकीया-भाव के नुकीले प्रेम में प्रणय-कोप का भी एक विशेष सुख होता है। प्रिय के दूर रहने पर विविध विचारों का घटाटोप, मिलने के लिए एक विचित्र व्याकुलता, प्रिय, की माधुरीमूर्ति का चिन्तन, प्रिय के रूठ जाने पर अपने व्यवहार पर मधुर पश्चात्ताप, संकेत स्थान के भयमय पथ पर निर्भय गमन, ठीक समय या उससे पूर्व ही संकेत-स्थान पर जा पहुँचना, अनुराग भरे लोचनों से पथ को झाँकते हुए प्रिय की प्रतीक्षा, मिलन-वेला के अति समीप आने पर चित्त की आकुलता की वृद्धि तथा वियोग-वेला के निकट आने पर उर-पीड़ा का अतिरेक, अभिसरण (छिप-छिप कर जाना) में सतर्कता, प्रणय-कलह में मधुराक्षेप तथा कटाक्ष-शर-संधान, वचनों के कटु होते हुए भी अन्तर की मधुर स्थिति, कभी-कभी दासत्व-स्वीकृति, अनुनय-विनय आदि अनेक शृंगारिक सुखद अनुभव इस कक्षा के रसिक उपासकों को ही होते हैं। गीत-गोविन्द के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति को अनेक आलोचक इसी कक्षा के भक्तों में मानते हैं। प्रेम की जो छटा राधा-कृष्ण के प्रेम में मिलती है, वह कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम में उपलब्ध नहीं है। एक स्थान पर परकीया-भाव है, दूसरे पर स्वकीया-भाव—एक में मधुरता, तरलता, और आकर्षण है और दूसरे में उच्चता, मर्यादा और आदर्श। परकीया-भाव के उपासकों को उतना आनन्द संयोग में नहीं प्रतीत होता है जितना वियोग में। संयोग की वियोगोन्मुखी परिस्थितियाँ ही ऐसे भक्तों को रुचिकर प्रतीत होती है।× इसलिए प्रणय-कलह मान आदि की माधुर्य भाव में प्रतिष्ठा है।

जो प्रेम और मर्यादा का सम्बन्ध है वही कृष्ण और राम का भी कहा जा सकता है। कृष्ण के उद्भव के विषय में किसी कवि की ये दो पंक्तियाँ कितनी साभिप्राय हैं:—

प्रेम जहाँ मरजाद नहीं अरु यह मरजादा सागर।
तिहिं रस कारण नन्द-भवन तब प्रकट भये नटनागर॥

एक और दोहा लोक में बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जो कृष्ण और राम के स्वभाव एवं चरित्र का सजीव चित्रण करता है वह यह है:—

सीतापति की कोठरी, चन्दन जड़ी किवाड़।
ताली लागी प्रेम की, खोलैं कृष्ण मुरार॥

ठीक भी है यदि भगवान् रघुनन्दन प्रेम की ताली न लगाएँ और किवाड़ खोल दें—मर्यादा छोड़ दें, तो यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप न होगा; किन्तु इन किवाड़ों को मर्यादा से ऊपर

×एक उर्दू के कवि का कहना है—

"यों हमको प्यार करने से मिलता मजा नहीं;
जब तक बिगड़-बिगड़ के कोई कोसता नहीं।"

विलास करने वाले यदुनन्दन खोलते हैं क्योंकि वे किसी नियम मे आबद्ध नही हैं। अन्यथा कर देने की शक्ति भी तो अलौकिक ही होती है। प्रेम को प्रेरित करने वाली वही शक्ति कितनी दिव्य होती है, देखिये—

"उपजा प्रेम जो हिरदै माहीं, नेम अचार रहा कछु नाहीं।"

लोक मे गुण रहने से गुणी की उत्तमता सिद्ध होती है, जैसे, सुगंध गुण रहने से पुष्प की अथवा कान्ति-गुण रहने से रत्न की। इस प्रकार गुण ही प्रधान रहा, गुणी प्रधान नही रहा, किन्तु इस तथ्य की सिद्धि भगवान् मे विपरीत होती है। वह गुणी प्रधान है। सत्य, ज्ञानादि गुण उसके आश्रय से शुभ हुए हैं। उनके गुणी-प्रधान होने से उनमें प्रक्षिप्त कोई भी दोष गुण होकर निकलता है। उनके स्वरूप ही की यह महिमा है कि उसमे पडते ही दोष भी गुण हो जाता है। इसी दृष्टि से किसी महात्मा ने श्री काञ्चीवरदराज के प्रति कहा है:—

"लोक मे गुणी हैं। उनमे गुण का होना मंगल पद है। परन्तु हे हस्तिगिरिपते! यह बात आपमे तो फिर उलटी है। सत्य, ज्ञानादि गुण आपमे आश्रय पाकर शुभ हो गये हैं। यह हम लोगो ने वेद-मर्यादा से निर्णय किया है।*

इस मर्यादा से प्रथम तो दोष कृष्ण में ठहरने की क्षमता ही नही रखते, उनमे पड़ते ही वे गुण हो जाते हैं, फिर कृष्ण को दोषी कहा ही कैसे जा सकता है? दूसरे "पुरुष तो एक परमात्मा ही है, इतर जगत् (सब)स्त्री-प्राय है।**जिस पुरुष की एक स्त्री हो उसके अतिरिक्त सब स्त्रियाँ परस्त्री कहलावेंगी, पर परमात्मा के सम्बन्ध मे तो परस्त्री का नाम ही नही है। अखिल जगत् उसके लिए स्त्रीप्राय है। ऐसी व्यवस्था मे जिस किसी ने कृष्ण को प्रियतम बना कर पुरुष भाव से चाहा उसको उन्होने उसी भाव से अङ्गीकार किया। इसमे दोष की कुछ बात नही है। जिस प्रकार भगवान् भक्तो के अनन्त भावो को पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार अपने मोहन कृष्ण-रूप मे इस भाव को भी पूर्ण करते हैं। अतएव गोपियो के साथ कृष्ण की अनेक रहस्य-लीलाओं के सम्बन्ध मे कई लोग जो अनेक आक्षेप करते हैं, वे अज्ञतापूर्ण अभक्ति के कारण करते हैं। यदि भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो तो मनुष्य भगवान् के अलौकिक रहस्यों को भी समझ सकता है, अन्यथा उसकी लौकिक बुद्धि उन लीलाओं को नही समझने देती।

जो प्रेम-स्वरूप हैं, रँगीले-छबीले कहलाते हैं, जिनकी कुटिल भ्रुकुटि, कटीले लोचन और तिरछी चितवन, मयूर मुकुट, वनमाला की छटा, टेढी गर्दन, और बाँकी अदा प्रसिद्ध है उनकी झाँकी से कैसा आकर्षण होता है, यह अनुभव की बात है, कहने की नही।

---

* 'गुणायत्तं लोके गुणिषु हि मतं मंगलपदम्।
विपर्यस्तं हस्तिक्षितिधरपते तत्त्वयि पुनः॥
गुणास्सत्यज्ञानप्रभृतय उत त्वद्गततया।
शुभीभूयं याता इति निरणयिष्म श्रुतिवशात्॥"

**'परमात्मा पुमानेकः स्त्रीप्रायमितरज्जगत्'

भगवान् के अर्चा-स्वरूप की सुन्दरता किसी के मन को खींचती है या नहीं, इसकी किसी को परीक्षा करनी हो तो बम्बई के माधव बाग के लक्ष्मीनारायणजी तथा जामनगर के माधवरायजी के दर्शन करें और देखें कि चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

माधुर्य भाव की उपासना में गोपियों के प्रेम की ध्वजा तो सबसे ऊपर फहरा हो रही है पर मीराँ, नरसी, जयदेव, हरिदास, आदि भी इस भाव के अनन्य उपासक थे। बिल्वमंगलजी तो प्रत्यक्षतः सौन्दर्योपासक थे। वे लौकिक स्वरूप पर मुग्ध होकर श्यामसुन्दर के दर्शन पा गये। भक्तमाल अथवा हरिभक्त-प्रकाशिका में इन भक्तों की कथा सविस्तार मिलती है। ये भाव अति सराहनीय हैं और अर्चास्वरूप की छवि-माधुरी तथा सेवा द्वारा भक्त लोगों को प्रायः मिलते रहे हैं।

भगवान् के कुछ गुणों का वर्णन

भगवान् गुणाकार हैं। उनके गुणों के वर्णन करने की शक्ति किसी में नहीं है। फिर भी भक्तों को उनका गुण-वर्णन सदैव प्रिय रहा है। यामुनाचार्य स्वामी भगवान् के कुछ गुणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥

(१) वशी—यह शब्द 'प्रभुता' और अधीनता' दोनों भावों का द्योतक है।

"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः"
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्।

उक्त वाक्यों से 'वशी' का गौरव प्रकट हो जाता है। 'वशी अधीनः' पद से भी यह स्पष्ट है कि भगवान् अपने आश्रितों के अधीन हैं। विश्वामित्रजी के प्रति श्रीराम के वचनों से यही भाव इस प्रकार स्रवित होता है—

"इमौ स्म मुनिशार्दूलकिंकरौ समुपस्थितौ।
आज्ञापय यथेच्छं वै शासनं करवाव किम्॥

अर्थ—हे मुनिशार्दूल ! हम दोनों किंकर आपके सामने हैं। आप इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये। हम आपके किस आदेश का पालन करें ? इससे सिद्ध हैं कि जिन भगवान् के सब वश में हैं वही अपने आश्रितों के वश में हैं। इसी से उनके लिए 'वशी' शब्द सार्थक है।

(२) वदान्य—इसका अर्थ है उदार। भगवान् की उदारता प्रसिद्ध है। कहा भी है—

"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानां
एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

जो अकेले ही बहुतों की कामना पूर्ण करते हैं, निःसन्देह वे उदार हैं।

(२) गुणवान्—गुण्यते, अभ्यस्यते इति गुणः (सदा अनुसंधान करने योग्य)

यहाँ सौशील्य गुण विशेषता से लिया गया है। गुणवान् का अर्थ यहाँ सौशील्यवान् है। पहले ही कहा जा चुका है कि भेदभाव को मिटा कर बड़े-छोटो से मिलना ही सौशील्य गुण है। भगवान् का बडप्पन सिद्ध है। उनका गुह, शवरी, गोपालादि के साथ मिलना इसी गुण का परिचायक है।

(४) ऋजु—इस शब्द का प्रयोग अकुटिल के अर्थ मे होता है। भगवान् सरल हैं, कुटिल नहीं हैं। इस सम्बन्ध मे भगवान् राम के वाक्य स्वयं प्रमाण हैं। उनका कहना है—"हे सीते, मैं अपने जीवन को छोड़ दूँ, और चाहे तुमको भी लक्ष्मण-सहित छोड़ दूँ, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को, (विशेषतः ब्राह्मणो के प्रति करके) न छोड़ूँ।"* इस सम्बन्ध मे द्रौपदी के के प्रति कृष्ण के ये वाक्य भी स्मरणीय हैं—"हे द्रौपदि ! स्वर्ग गिर पड़े, पृथ्वी शीर्ण हो जाए, हिमालय के टुकडे हो जाएँ, और चाहे समुद्र सूख जाए, परन्तु मेरा वचन अन्यथा न हो।"* ऋजु का अर्थ आश्रितच्छंदानुवर्ती भी होता है।

(५) शुचि:—अपहृत पाप्मा-उपकार के समय प्रत्युपकार की आकांक्षा न रखने वाले अथवा द्रव्य-तारतम्य बिना भक्तिमात्र से प्रसन्न होने वाले। भगवान् ने स्वय स्वीकार किया है-"भक्तो द्वारा प्रेम से लाया हुआ अणु भी मुझ को बहुत होता है और अभक्त के लाये हुए बहुत से भी मेरी प्रसन्नता नही होती।"* अथवा शुचि का अर्थ है 'पावन'। 'पावन' दूसरो को पवित्र करने वाले को कहते है। महापुरुषों के ये वाक्य प्रमाण हैं—

"पावनस्सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन" वा
"अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य· स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचि।"

(६) मृदु:—इस शब्द का सामान्य अर्थ है 'कोमल'। भगवान् भी कोमल हैं क्योंकि वे अपराधी और संजातभय लोगो को सहसा आश्रयण प्रदान करने वाले हैं। भगवान् की कोमलता के सम्बन्ध मे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ये शब्द प्रमाण हैं—

विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सल·।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥

मृदु उसे भी कहते हैं जो आश्रित के विश्लेष को सहन न कर सके।"* भगवान् भी अपने आश्रित के विश्लेष (वियोग) को सहन नहीं कर सकते, अतएव उन्हे 'मृदु' कहना उचित ही है। प्रमाण के लिए अन्यत्र कहे हुए इस श्लोक को देखिए—

---

*"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषत:॥
*"द्यौः पतेत् पृथिवी शीर्येत् हिमवान् शकली भवेत्।
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥"
*भक्तैरण्वप्युपानीतं प्रेम्णा भूर्यैव मे भवेत्।
बह्वप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
*आश्रितविश्लेषासहिष्णु· मृदु।

"सकृत्त्वदाकार विलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः ।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणोऽपि ते यद्विरहोऽतिदुःसहः ॥

(७) दयालु :—(स्वार्थनिरपेक्ष होकर परदुःख से दुःखी होना ही दया है ।)* बिना स्वार्थ-बुद्धि के अर्थात् परदुःख से दुःखी होना दया है । जिनसे स्वार्थ है उनका दुःख देख कर दुःखी होना दया नहीं है । स्वार्थ-सापेक्षता की दशा में दया का भाव दब जाता है, इसलिए निरपेक्ष भाव दया का साथी है । 'पर' शब्द से मित्र-शत्रु से व्यतिरिक्त केवल 'उदासीन' भाव का संकेत मिलता है क्योंकि शत्रु-विषय में दया होने से पुरुष असमर्थ कहलाता है । पुत्रादि के दुःख से दुःखी होने में पुत्रत्वादि-सम्बन्ध-भावना ही मुख्य ठहरती है । इसी भाव से प्रेरित होकर मनुष्य उनकी रक्षा करता है, दयाद्रवित होकर नहीं ।

'परदुःखदुःखित्वं दया

यह कहने से शंका उठाई जा सकती है कि जो परमात्मा नित्यानन्द स्वरूप हैं उसको दुःख कैसा ? उसको दुःखी कहने से निर्विकार श्रुति का बाध होता है ; अतएव शंका वालों के मत से—

'परदुःखापाचिकीर्षा' अर्थात् 'परदुखं अपाकर्तुं दूरीकर्तुमिच्छा

परदुःख को निवारण करने की इच्छा ही दया है । यह ठीक नहीं है क्योंकि लोक में दूसरे के दुःख का निवारण करना असाध्य दीखने पर उसके मिटाने की इच्छा नहीं भी होती है, फिर भी अनेकों को परदुःख से दुःखी होते हुए देखा जाता है । उनको दयावान् कहा जाता है । इस व्यवहार में हानि होगी । चेतन का दुःख देख कर परमात्मा को दुःख होना, रक्षा के हेतु होने से गुण है, दोष नहीं है । कर्म से दुःख का होना दोष है । वाल्मीकि रामायण का यह वाक्य इसका प्रमाण है—'वे मनुष्यों के व्यसनों (दुःखों) में बहुत दुःखी हो जाते हैं और सब उत्सवों में पिता की तरह बहुत प्रसन्न हो जाते हैं"× यदि अपने लोगों के दुःख देख कर परमात्मा को दुःख न हो तो ऐसे कठिन-प्रकृति स्वामी की शरण लेने से क्या फल होगा ? इसलिए 'स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखदुःखित्वं,' यह दया का लक्षण बहुत ठीक है । निर्विकार श्रुति का यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि परदुःख को देखकर परमात्मा को दुःख होना कर्म-प्रयुक्त-विकार नहीं है ।

इसी सम्बन्ध में कुछ लोग यहाँ प्रश्न कर देते हैं कि अपनी पत्नी सीता का अपहरण हो जाने पर क्या राम को उनके प्रति दया नहीं आई ? यदि दयाभाव उत्पन्न हुआ तो वहाँ 'पत्नीत्व' संबंध था, उदासीनता कहाँ थी ? ऐसा प्रश्न करने वालों को यह समझ लेना चाहिये कि 'जानकीजी के प्रति पत्नी-संबंध से राम को दया नहीं आई शोक हुआ । एकही व्यक्ति के प्रति अनेक व्यवहार रहने से एक-एक व्यवहार के साथ एक-एक भाव हो सकता है ; 'स्त्री जाति का अत्यन्त

*'स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखदुखित्वं दया'

×व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।"

पराभव हुआ, यह असह्य है'—इस व्यवहार-भेद से उन्हीं जानकी के प्रति राम की दया हो सकती है ; परन्तु वह पत्नीव्यवहार से नहीं कही जायगी। ऐसे स्थल में एक ही व्यक्ति के प्रति व्यवहार का विभाग होता है। इसी प्रकार पुत्र के विषय में पुत्रत्व बिना, उदासीन व्यवहार से, दया हो सकती है। रामायण में सीता के सम्बन्ध में यह व्यवहार-विभाग स्पष्ट कर दिया गया है। स्त्रीजाति में से कोई प्रणष्ट हुई, यह भाव करुणा का है, 'प्रिया थी' यह भाव मदन-संबंध से होता है, 'पत्नी जाती रही' यह शोक है और 'वह एक आश्रिता थी' इस सम्बन्ध में अहिंसकत्व-भाव है''*

(८) मधुर—'आनन्दरूपतावान् मधुरः। इसका प्रमाण यह है—

रसो वै सः आनन्दो ब्रह्म-प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

ऐसे प्रमाणों से प्रतिपादित आनन्दरूपतावान् मधुर-शब्दार्थ है। कायिक-वाचिक मधुरता भी मधुर-शब्दार्थ में आ जायगी। भगवान् में कायिक मधुरता का प्रमाण यह है—

"सोमवत्प्रियदर्शनः"

अथवा

"रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणः"

और वाचिक मधुरता का प्रमाण यह है—

"प्रियंवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः"।

(९) स्थिरः—आश्रित की रक्षा में बिना क्षोभ के स्थैर्य वाले व्यक्ति को 'स्थिर' कहा जाता है।** राम की स्थिरता प्रख्यात है। अति विकट वातावरण होने पर भी विभीषण के शरण में आने पर राम ने उन्हें बिना क्षोभ के ही आश्रय और रक्षण प्रदान किया। किसी को अपना कर दुत्कारना अस्थिर व्यक्ति का काम है। स्थिर तो मित्ररूप से ग्रहण किए हुए को छोड़ना धर्म नहीं मानता। ×आश्रित-रक्षण के सम्बन्ध में ऐसी स्थिरता ही स्थिर शब्द की सार्थकता है।

(१०) सम—जातिगुणवृत्तादि बिना सर्व-शरण्य होना ही समत्व है। गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"।

(११) कृती—कर्तव्य सहितः कृती। गीता में स्वयं कृष्ण का वाक्य है—

"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यम्"

अथवा 'कृती' कृतकृत्य को भी कहते हैं। "लंका में राक्षसराज विभीषण का राज्याभिषेक करके कृतकृत्य राम निश्चिंत होकर प्रमुदित हुए। ┼यदि भगवत्स्वरूप कृती न हो तो राम

---

*स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यात् प्रियेति मदनेन च।
पत्नी नष्टेति शोकेन आश्रितेत्यनृशंसतः। (वाल्मीकि-रामायण)

**'आश्रितरक्षणे स्थैर्यं अक्षोभ्यत तद्वान्'।

× मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।

┼ "अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह।"

रावण के हाथों में लंका के होते हुए भी विभीषण को लंकेश न कह देते। भगवान् सत्यसंकल्प हैं, इसीलिए विभीषण का अभिषेक कर देने पर वाक्दान की सिद्धि हो जाने से वाल्मीकिजी ने कहा कि 'राम कृतकृत्य हो गये।' 'भगवान् जो चाहें वही हो जाए,' इस कार्यकुशलता और सामर्थ्य को लेकर यह कृती शब्द है।

(१२) कृतज्ञ :—(उपकारज्ञः)। इस शब्द का प्रयोग उपकार मानने वाले के लिए आता है। किसी के किए हुए उपकार को सामान्यता से नहीं, विशेषता से मानना कृतज्ञ का गुण है। भगवान् उपकार को अच्छी तरह मानते हैं और कदाचित् एक ही उपकार से प्रसन्न भी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में ये वाक्य प्रमाण हैं—

"न स्मरति अपकाराणां शतमपि आत्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ॥"

और इसी से धौम्य ने कहा है—

"अपां समीपे शयनासनस्थितौ
दिवा च रात्रौ च यथाधिगच्छता।
यद्यस्ति किंचित्सुकृतं कृत मया
जनार्दनस्तेन कृतेन तुष्यतु।"

भगवान् के अनन्त-गुण-युक्त अनन्त नामों में से इन बारह नामों के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि राम, कृष्ण, नारायण भगवान् आदिक भगवन्नामों को छोड़कर विश्व में इतर कोई नाम जपने योग्य नहीं है क्योंकि वे ही सबसे बड़े हैं और 'परत्व' उन्हीं को प्राप्त है। ब्रह्मा से लेकर घास तक जितने प्राणी जगत् में व्यवस्थित हैं वे सब कर्मजनित जन्म-मरण के वशवर्ती हैं। इस कारण यदि ध्यानी लोग उनका ध्यान करें तो वे उपकारक सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि वे सब अविद्या के भीतर हैं और परिणामी हैं।+

इसलिए यह विचारणीय है कि जो स्वयं अविद्या में फँसे हुए हैं, परिणामी हैं, और जीते और मरते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े अधिकारी क्यों न हों, जब स्वयं संसार-चक्र से बँधे हुए हैं तो अन्य जीवों को उससे कैसे छुड़ा सकते हैं। इस कारण ध्यान केवल नारायण ही का करना चाहिए। व्यासजी तो इस सम्बन्ध में भुजा उठा कर कहते हैं—"मैं भुजा उठा कर सत्य, सत्य और फिर सत्य कहता हूँ कि वेद से बढ़ कर कोई शास्त्र नहीं है और केशव से बढ़ कर

\+ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनिताः संसार-वशवर्तिनः ॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥

कोई देव नहीं है।* श्री शुकदेवजी ने अखिल शास्त्र-निष्कर्ष इन शब्दों में निरूपित किया है—"सब शास्त्रों का मंथन और बार-बार विचार करने पर एक यही मत निष्पन्न हुआ है कि सदा ध्यान करने योग्य एक नारायण ही है।×

मैत्रेयजी को पराशरजी द्वारा दिये हुए इस उत्तर से भी सिद्ध होता है कि परत्व नारायण ही को प्राप्त है। कारणवस्तु की सूचना देते हुए वे कहते हैं—

'विष्णोः सकाशादुद्भूतम्'

अर्थात् यह सब विष्णु से उत्पन्न हुआ है। विष्णु ही सब के कारण है। वेदान्त का निर्णय भी इसी प्रकार है—

"वेदवित्प्रवरप्रोक्तवाक्यं न्यायोपबृंहिता।
वेदास्साङ्गाः हरिं प्राहुः जगज्जन्मादिकारणम्।"

इसी के अनुरूप "जन्माद्यस्ययत."—यह व्यास-सूत्र है। इसका मूल तैत्तिरीयोपनिषत् का यह वाक्य है—"जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है।"*

ऊपर श्रुति और सूत्र दोनों में ब्रह्म को जगज्जन्मादि का कारण प्रतिपादित किया गया है। यहाँ ब्रह्म शब्द से क्या अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए? यह निश्चय करना है। इसके निर्णय के लिए छान्दोग्य उपनिषत् का यह वाक्य लेते हैं—

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'।

इस श्रुति-वाक्य में 'ब्रह्म' का 'सत्' शब्द से प्रतिपादन किया गया है। इससे सच्छब्द वाच्य और ब्रह्म शब्द वाच्य की एकता प्रतीत होती है, किन्तु

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्"

इस वाक्य में उसी उपनिषत् में 'आत्मा' शब्द से कारण-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु महोपनिषत् का यह वाक्य—

"एकोह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा
नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि"

नारायण को कारण-वस्तु प्रतिपादित करता है।

---

* "सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भुजमुत्थाप्य चोच्यते।
न वेदाच्च परं शास्त्रं न देवः केशवात्परः॥"

× आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति
अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।

ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त वाक्यों में कारण-वस्तु को 'ब्रह्म', 'सत्', 'आत्मा' और 'नारायण' कहा गया है। यह नारायण शब्द भगवद्व्यक्तिविशेष में रूढ़ होने से सत्, ब्रह्म, आत्मा ये साधारण शब्द इस विशेष में पर्यवसित हो जाते हैं, जैसे पदार्थेन जलमाहर, द्रव्येण जलमाहर, पार्थिवेन जलमाहर, घटेन जलमाहर—इन वाक्यों में जलाहरण के उपकरण को पहले पदार्थ शब्द से, फिर द्रव्य शब्द से, फिर पार्थिव शब्द से और पीछे घट शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'पदार्थ' 'पार्थिव' शब्द घटार्थ पर हैं। इसी प्रकार 'नारायण' का परत्व सम्मत है। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—

"नारायणात्परो देवो न भूतो न भविष्यति।
एतद्रहस्यं वेदानां पुराणानां च सम्मतम्॥"

इसी रहस्य का उद्घाटन सुबालोपनिषत् ने इस प्रकार किया है—

"किं तदासीत्तस्मै वेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारं
इमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः।"

महाभारत में भी नारायण को ही कारण-वस्तु स्वीकार किया गया है। प्रलयकाल में सब कुछ विलीन हो जाने पर एक नारायण ही अवशिष्ट रहते हैं—

"ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे,
आभूतसंप्लवे प्राप्ते प्रलीनः प्रकृतौ महान्॥

तथा—

एकस्तिष्ठति विश्वात्मा सतु नारायणः प्रभुः।
कृष्ण एव हि लोकानां उत्पत्तिरपि चाप्ययः॥"

इस रहस्य का उद्घाटन पुराण-वाक्य द्वारा इस प्रकार किया गया है—

"व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी प्रकृति और पुरुष, दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा ही सर्वाधार एवं सर्वेश्वर है। वह वेद और वेदान्तों में विष्णु नाम से प्रकीर्तित हुआ है।"*

इसी आशय को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"ब्रह्मा, शंभु, सूर्य, चन्द्र और इन्द्र (जिस प्रकार से ये उसी प्रकार से अन्य भी) वैष्णव तेज से युक्त हैं। जगत्कार्य के

---

* "प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि॥
परमात्मा च सर्वेषां आधारः परमेश्वरः।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते"॥

अवसान में वे तेज में वियुक्त हो जाते हैं। तेज वियुक्त होकर वे सब पंचत्व को प्राप्त हो जाते हैं और नारायण में विलीन हो जाते है ।"×

ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि नारायण सर्वोपरि हैं।

उन्ही नारायण को श्री जयदेव ने "दिनमणिमण्डलमंडन भवखण्डन" तथा अमल कमलदल लोचन, भवमोचन" कहा है । शुकनारदादि मुनिवर, परीक्षितादि मनुज, ब्रह्मरुद्रादि सुरवर, और प्रह्लादादि असुर उन्ही के परिवार हैं। उन्ही का स्वरूप परमविभूतिवान् है। वे ही शोभा की शोभा और अनन्त दया के सागर हैं। 'भगवत्पर' जनो की भावना उन्ही नारायण में रहती है।

× ब्रह्मा शंभुस्तथैवार्कः चन्द्रमाश्च शतक्रतुः।
एतदाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा ॥
जगत्कार्यावसानेषु वियुज्यन्ते च तेजसा ।
वितेजसश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति च ॥
नारायणे प्रलीयन्ते × × × × ।



'भगवत्पर' जनों के दो भेद हैं। (१) भक्त और (२) प्रपन्न। जो भक्त हैं वे परमात्मा से प्रेम करते हैं, प्रेमपूर्वक भगवत्पूजन कर आनन्दित रहते हैं और प्रेम-बाहुल्य से भगवान् के साकार रूप को प्रकट तक करा लेते हैं। भक्ति शब्द सेवा* का बोधक है। भगवत्स्वरूप में अत्यन्त उत्साहपूर्वक सेवा-भाव का उदय होने पर प्रेम की जो अटूट तीक्ष्ण धारा बहने लगती है उसका नाम भक्ति है। भक्ति का आरंभ साधारण पूजन से होकर उसकी पूर्ति ईश्वर के अत्यन्त गंभीर प्रेम में होती है। जिसमें परमात्मा के प्रति ऐसा प्रेम होता है, वह भक्त होता है। भक्ति परमात्मा को बहुत प्यारी है, इसीसे वे भक्तों के वश में हो जाया करते हैं। किसी संसारी के प्रति ही भक्ति प्रेम और सेवा करके देखो। वह आपके अनुकूल होता है वा नहीं? अवश्य होगा। फिर परमात्मा का तो कहना ही क्या? वे तो प्रेम ही के ग्राहक हैं। उनकी प्रसन्नता में आचरण, अवस्था, विद्या, नाम-रूप, धन, उच्च वंश, और पौरुष आदि कारण नहीं बनते। व्याध का क्या आचरण था, ध्रुव की क्या अवस्था थी, गजेन्द्र की क्या विद्या थी, कुब्जा का क्या नाम-रूप था, सुदामा के पास क्या धन था, विदुर का क्या वंश था, और उग्रसेन का क्या पौरुष था? इससे सिद्ध है कि माधव भगवान् केवल भक्ति से संतुष्ट होते हैं, गुणों से नहीं। उनको तो भक्ति ही प्यारी है।',°

भगवत्पर जनों के भेद और भक्ति की व्याख्या

भगवान् में प्रेम की लगन लगी हो तब तो कहना ही क्या है। यदि अन्य भावों से भी भगवान् में पूरी लगन लगी हो तो भी उद्धार हो जाता है, जैसे जल में कूदने से भीगना ही पड़ता है चाहे किसी भाव से कूदो, क्योंकि जल का स्वरूप ही द्रव है। गोपियों की 'लगन' भगवान् में काम-भाव से हुई थी, और कंस की भय से—* ऐसे भय से कि उसे सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दीखने लगे। इसी प्रकार शिशुपाल की भी भगवान् में 'लगन' थी, किन्तु द्वेष से।" अभिप्राय यह है कि उनकी 'लगन' किसी प्रकार से हुई हो, परन्तु थी तो परमात्मा के प्रति—उस परमात्मा के प्रति जिसमें अनन्त कल्याणगुण सदा निवास करते हैं। उसने अपने स्वरूप का परिचय दिया। यह उसकी स्वाभाविक महिमा है कि वह उत्तम ही

---

* 'भज सेवायाम्'।

° व्याधस्याचरणं ध्रुवस्यच वयो विद्या गजेन्द्रस्य का?
कुब्जायाः किं नामरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्॥
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

* कामाद् गोप्यो भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।

गति देता है, परन्तु इन सब मार्गों से प्रेम का मार्ग उत्तम है क्योंकि भय, द्वेष आदि के भाव प्रथम तो विपरीत होते हैं, दूसरे जब तक वे अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं होते, उत्तम फल नहीं मिलता। इधर प्रेम-मार्ग के पथिक को देखिये। वह भक्ति के अतिरिक्त और किसी फल की ओर दृक्पात ही नहीं करता। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर, पत्र, कलिका फूल, फल और भोग-ये क्रम से होते हैं वैसे ही प्रीति, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग क्रम से उदित होकर पूजन के भाव में मिल जाते हैं। यह भक्ति बहुत गुर्वी है। इसके लिए नकुल ने कहा है-"चाहे कालपाश में अनुबद्ध मुझे अधोगति मिले, चाहे कुलविहीन पक्षि-कीट-योनि में जन्म मिले और चाहे अन्तरात्मा सैकड़ों कीड़ों में जाकर उत्पन्न हो, परन्तु मेरी एकभक्ति (अनन्यभक्ति) हृदयस्थ केशव में हो।"० इसी प्रकार कुन्ती का कहना है—"हे हृषीकेश ! मैं अपने कर्मफल से निर्दिष्ट जिस जिस योनि में जाऊँ उस उस में मेरी भक्ति आप में दृढ़ रहे।"* कुलशेखर स्वामी लिखते हैं—"हे चित्त ! तू इस कातरता को प्राप्त मत हो कि इस अगाध और दुस्तर संसार-सागर से मेरा संतरण कैसे होगा। नरक को छुड़ा देने वाले कमलाक्ष में जमी हुई तेरी अनन्य भक्ति तुझे अवश्य तार देगी।"° वे फिर लिखते हैं—"संसार नाम से प्रसिद्ध महासागर में जिसमें तृष्णारूपी जल है, मदनरूपी पवन से मोहरूपी लहरमाला ऊँची उठ रही है, स्त्री-रूपी भँवर है, और जो पुत्र-पुत्री और भाई-बहिन रूपी ग्राहों से व्याप्त है डूबते हुए हमको, हे त्रिधामन ! हे वरद ! तू अपने चरणारविंद में भक्तिभाव प्रदान कर।"+ भगवद्भक्त प्रह्लादजी कहते हैं "हे नाथ ! सहस्रों योनियों में से मैं जिन जिनमें जाऊँ हे अच्युत ! उन उनमें आपमें मेरी अचला भक्ति बनी रहे। अविवेकियों की जो स्थिर प्रीति विषयों में रहती है, (वैसी ही प्रीति) आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से दूर न हो।× महात्मा दाल्भ्य का कहना है—"जिसकी जनार्दन में भक्ति है उसको बहुत मंत्रों से क्या प्रयोजन है ?"**

०यदि गमनमधस्तात् कालपाशानुबद्धो,
यदि च कुलविहीने जायते पक्षिकीटे ॥
कृमिशतमपि गत्वा जायते चान्तरात्मा,
मम भवतु हृदिस्थे केशवे भक्तिरेका ॥

*स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्।
तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥

°"भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं कथमहमिति चेतो मास्मगाः कातरत्वम्।
[illegible] तारयिष्यत्यवश्यम् ॥

×"नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।"

**"किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने।"

इन वचनों से स्पष्ट है कि भगवद्भक्ति बड़ी मधुर एवं आनन्ददायिनी है। ऐसे घोर संसार-सागर से बेड़ा पार लगाने की इसी में सामर्थ्य है। इनसे भक्ति की अमित महिमा सिद्ध

भक्ति की महिमा

है। सच्चे भक्त प्रभु मे प्रेम करते हैं, किन्तु वे इसका बदला नहीं चाहते। श्रीनृसिंह भगवान् ने प्रह्लाद से कहा कि कुछ मांग तो प्रह्लाद ने निवेदन किया—"स्वामिन्! यह भक्तिमार्ग दुकानदारी नहीं है, फिर दास को लेन-देन से क्या प्रयोजन? भक्तजन भगवान् के गुण गाते हैं। वे भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। आदि, मध्य और अवसान, सब उन्हीं के प्रेम में होते हैं। इतर योगों में उपाय और फल भिन्न होते हैं, किन्तु भक्तियोग में उपाय-फल अभिन्न होते हैं। दोनों में एकमात्र भक्ति रहती है। भक्ति-मार्ग सबसे सुगम है। सांसारिक लोग अपने विचारों के घोड़ों को दौड़ाते ही रह जाते हैं, किन्तु वे उस स्थल तक नहीं पहुँच पाते जहाँ भक्तजन भगवान् की कृपा से सहज ही पहुँच जाते हैं। "दुर्बल विचारों की गति भगवान् तक नहीं है।× भक्तिमार्ग अपने पथिकों को विचारों के धुंधले और विषम देश से शीघ्र ही आगे निकाल ले जाता है। फिर अंधकार में बुद्धिबल लगाने का प्रयोजन ही नहीं है।

भक्त को तो पूर्ण प्रकाश में भगवान् के दर्शन होते हैं। सामान्य ज्ञान तो पशुओं में भी होता है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि का विस्तार उससे कहीं अधिक होता है। मनुष्य की बुद्धि

भक्ति और बोध

भी सर्वत्रगामिनी नहीं है। कुछ दूर चल कर वह भी रुक जाती है; आगे नहीं बढ़ सकती। यदि उसे गम्य से आगे बढ़ने के लिए धकेला जाता है तो वह कुबुद्धि बन जाती हैं क्योंकि बुद्धि-गमन की भी एक सीमा है। इसमें उसका उल्लंघन करने की क्षमता नहीं है। अनेक ब्रह्माण्डों में से जितना जगत् इन्द्रियगोचरता को प्राप्त होता है उसी के भीतर यह बुद्धि काम करती है। यही बोधक्षेत्र है। जो लोग बोधक्षेत्र से आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं उनको विवेक, जितेन्द्रियता, शुचित्व आदि भक्ति-साधनों वा अंगों का सम्पादन करना आवश्यक है।

अच्छे-बुरे में भेद करना ही विवेक है। इसके अन्तर्गत अनेक बातें आती हैं। शुद्धाशुद्ध

भक्ति और विवेक

भोजनादि की छांट भी विवेक-क्षेत्र ही में आती है। आजकल शुद्ध भोजन का उपहास किया जाता है। स्वादिष्ट और देखने में भी अच्छे लगने वाले भोजन को कुछ लोग शुद्ध मान लेते हैं। अशुद्ध वस्तु हानिकारक होती है, यह समझने की बात है।

भोजन में अशुद्धता दो प्रकार से आती है—(१) खाद्य वस्तु के स्वभाव से (जिसे स्वाभाविक अशुद्धि कहते हैं), और (२) दूषित संसर्ग से। लहसुन आदि की दुर्गन्ध और तामसिकता स्वाभाविकता है। मल आदि के लगने, अशुद्ध वायु में पड़ने अथवा पतितों के संसर्ग में जाने से वस्तु में सांसर्गिक दोष वा अशुद्धि का आना स्वाभाविक है।

× "यतोवाचा निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह·········।"

(उपनिषदे)

वेद का वाक्य है कि आहार-शुद्धि से सत्व-शुद्धि होती है और धारणा-शक्ति सुव्यवस्थित होती है। विचार-शक्ति भी भोजन से ही बनती है। सात्विकी भोजन से विचार सात्विक होते हैं। आत्मिक उन्नति के लिए सत्वगुण-वृद्धि की परमावश्यकता है और सत्वगुण-वृद्धि के लिए आहारशुद्धि और उसके लिए विवेक की आवश्यकता है।

यहाँ शुद्धि से तात्पर्य आचार-विचार की शुद्धि से भी है। कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि की खिल्ली उड़ाते देखे जाते हैं। वे वस्तुतः इनके महत्व को ही नहीं समझते। आचरण की महत्ता को देखना हो तो वहाँ देखिये, जहाँ लोग 'कथनी' से 'करनी' को ऊँचा कहा जाता है। एक श्लोक मे कहा भी है.—

भक्ति और आचरण

"परोपदेशवेलायां सर्वे शिष्टा भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ॥

और भी—

'हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्'।

अतएव आचरण की खिल्ली उड़ाने वाले वही लोग हैं जो स्वयं आचारी नहीं है। इस 'आचार' शब्द के साथ विचार शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी आचार को विचार के बिना अंगीकार नही किया जाता। बिना विचारे आचार करने से आचार में दूषण आना बहुत संभव है। इससे पीछे पछताना पड़ता है। कहा भी है—

"बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछताय।
काम बिगाड़े आपनो, जग में होत हँसाय ॥"

जो व्यक्ति कहने को क्रियान्वित करता है वह आचार्य कहलाता है। जो शास्त्रों के अभिप्रायों को समझे और जो स्वयं आचरण करता हुआ दूसरों को आचरण में लगावे वह आचार्य कहा जाता है.—

"आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यसौ।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते ॥"

आचार-विचार दोनों की शुद्धता से ही जीवन पवित्र होता है। यह असंभव है कि अशुद्ध और अपवित्र विचारों के होते हुए आचार शुद्ध रह सके। इसलिए आचार शुद्ध रखने से पूर्व विचार शुद्ध होने की आवश्यकता है। कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि को हार्दिक संकीर्णता मानते हैं। उन लोगों का कहना है कि यदि हम सामाजिक उन्नति चाहते हैं तो हार्दिक संकीर्णता को निकाल कर हृदय को उदार बनाना होगा। ऐसे लोगों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे शुद्धाशुद्ध का भेद नहीं समझते हैं। वे उदारता और संकीर्णता का आशय नहीं समझते हैं। ऐसे लोगों को ध्यान रखना चाहिए कि भक्त अनुदार नहीं होता। भक्त की विशेषता है। "भगवद्-भक्तों की शूद्र संज्ञा नहीं है। वे विप्र-भागवत माने जाते हैं। सब वर्णों में शूद्र वे हैं जो भगवद्-भक्त नहीं हैं";—

"न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रभागवता स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दन ॥"

विष्णु-भक्त चाण्डाल भी द्विज से अधिक है और विष्णुभक्ति मे विहीन 'यति' भी चाण्डल से अधिक अधम है।

शुचित्व केवल शारीरिक ही नहीं होता, मानसिक भी होता है। यहाँ हमारा अभिप्राय शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शुचिता से है। मन की पवित्रता के बिना वाह्यकर्म अधिक काम नही देते। इसीलिए सत्य, आर्जव, दया, क्षमा, अहिंसा, अस्तेय, अक्रोध, आदि अनेक वातों की आवश्यकता शुचित्व-सिद्धि के लिए आवश्यक है। त्याग भी शुचिता का ही एक अंग है। सब योगों में इसकी बड़ी महिमा है। भक्तियोग में तो इसकी महिमा और भी विलक्षण है। यहाँ त्याग के अन्तर्गत किसी बड़े भारी साहस की आवश्यकता नहीं है, और न किसी तोड़-फोड़ या किसी से वलपूर्वक अलग करने की आवश्यकता ही है। यह त्याग अत्यन्त स्वभाविक है। जब कोई मनुष्य किसी से प्रेम करता है और फिर कोई दूसरा प्रियतर प्रतीत होने लगता है तो पहलेवाला स्वतः ही प्रेमी के हृदय से गिर जाता है। इसी प्रकार अपने नगर को ही प्रेम करने वाला जब देश-भर को प्रेम करने लगता है तो नगर-प्रेम का वाहुल्य नहीं रहता और जब वह विश्व-भर से प्रेम करने लगता है तो देश-प्रेम का वाहुल्य कम हो जाता है। यह क्रिया स्वाभाविक ढंग से चलती ,रहती है। इसमें न कोई आघात पहुँचता है और न किसी वल-प्रयोग की आवश्यकता ही रहती है। असंस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखों का लोभी रहता है। जैसे-जैसे वह संस्कृत होता जाता है इन्द्रिय-सुखों की लिप्सा न्यून होती जाती है और बौद्धिक सुखों की चाह होने लगती है। खाद्य पर जितनी मुख-तीव्रता से कुत्ता या भेडिया टूट पडता है। उतनी तीव्रता से मनुष्य नहीं टूट पड़ता, किन्तु बुद्धि-सम्बन्धी अनुभूतियों की और प्राप्तियों से जो सुख मनुष्य को होता है वह कुत्ते को कभी नही हो सकता। सुख पहले निम्न-इन्द्रिय-योग से होता है, परन्तु पशुत्व के दूर होने पर मानव जब उच्च कक्षा में पहुँचता है तो निम्न कक्षा के सुख गहराई में कम हो जाते है। ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनों सुखों से भी ऊपर एक ऐसा स्तर हैं जहाँ से ये दोनों सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। वह ऐसा स्तर है जहां जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप तथा सम्बन्ध के ज्ञान की समग्रता प्राप्त होती है। जब चन्द्रमा चमकने लगता है तो आकाश के तारे हतप्रभ दीखने लगते हैं और जब सूर्य चमकने लगता है चन्द्र स्वयं हतप्रभ हो जाता है इसी प्रकार भक्तिमार्गीय त्याग सहज रूप में आता है। भगवत्-प्रेम के आगे ऐन्द्रिय और बौद्धिक सुख निस्तेज एवं नीरस हो जाते है। यह भगवत्प्रेम अपनी प्रथमावस्था में 'गौणीभक्ति' कहलाता है, किन्तु प्रेम के बढ़ जाने पर वह 'पराभक्ति कहलाता है, भक्त अपने किसी भाव को वलपूर्वक दवाता नहीं हैं प्रत्युत गहरा कर के प्रभु में लगा देता है। प्रेम सर्वत्र एक ही है। किन्तु भिन्न-भिन्न आश्रयों से अभिव्यक्त रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। इसमें भी विवेक की आवश्यकता रहती है। कोई अच्छी ओर ले जाता है और कोई बुरी ओर धकेलता है। इसी के प्रभाव से कोई उपकार करता है और अनाथों एवं दीन-दुखियों को सर्वस्व दे डालता है और इसके प्रभाव से अपने

महोदरों तक के गले काट कर उनके द्रव्य का अपहरण कर लेता है। एक का प्रेम दूसरों की ओर है और दूसरे का उतना ही अपनी ओर होता है। जो अग्नि अपने लिए पाक तैयार करने में सहायक होती है वही एक शिशु को जला देती है। इसमें भला अग्नि का क्या दोष ? अग्नि तो अपना काम करती है जिस रीति से उससे काम लिया जायगा, उसी रीति से वह काम देगी। इसलिए अनेक काम करने वाली अग्नि में भेद देखने की आवश्यकता नहीं है। भेद तो अग्नि के व्यवहार की रीति में है। इसी प्रकार प्रेम का व्यवहार जब लोक में किया जाता है तो वह संसार-चक्र पर चढ़ाता है और जब उसे सर्वात्मा में लगाया जाता है तो संसार-चक्र से छुड़ाता है अतएव प्रेम (जो संयोग की उत्कट चेष्टा अथवा दो वस्तुओं के अत्यन्त निकट आ जाने तथा संयुक्त हो जाने की बलवती शक्ति है) की अनुचित दशा को मोह कहते हैं। वह निंदित है। किन्तु जो प्रेम योग-स्वरूप माना जाता है, जिसकी निर्मल अटूट धारा परमात्मा के प्रति सदैव बहती रहती है, वह भक्ति-योग है। भक्ति-योग यह नहीं कहता कि 'यह छोड़ो, वह छोड़ो', वह तो इतना मात्र ही कहता है—"प्यार करो, उस प्रेम रूप से प्यार करो।" जो उस सर्वोत्तम को अपना प्रेम-पात्र बनाता है, उसकी दृष्टि से अन्य सब वस्तुएँ गिर जाती हैं। वह और कुछ नहीं कह सकता, केवल इतना कह कर रह जाता है—"मैं तो तेरा कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता। इतना कहता हूँ कि तू मेरा प्रिय है, तू सुन्दर है, तू महासुन्दर है, और स्वयं मूर्तिमान सौन्दर्य तू ही है।

भक्ति-मार्ग में आवश्यकता इस बात की है कि सौन्दर्य की तृष्णा प्रभु के प्रति रहे। मनुष्य के मुख पर क्या सुन्दरता है ? आकाश में क्या है ? तारों में क्या है ? चन्द्र में क्या है ? यह सब भगवत्सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब है। भगवत्-कान्ति से सब कुछ कान्तिमान् है। उसी प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है मनुष्य-हृदयों के योग्य यदि कोई आकर्षण है तो भगवान्। उस हरि के सिवा भला मन का और कौन हरण करेगा ? जब तुम देखते हो कि कोई पुरुष किसी के सुन्दर रूप पर मोहित होकर पीछे चला जा रहा है तो यह समझते हो कि थोड़े में व्यवस्थित भौतिक परमाणु ही वास्तव में उस पुरुष को खींच रहे हैं, कभी नहीं, उन भौतिक परमाणुओं के पीछे भगवान् के प्रेम-स्वरूप की छटा रहती है। उस पवित्र प्रभाव की तरंग को ज्ञान-हीन पुरुष नहीं जान पाता है। वह जाने, चाहे न जाने, अवश्य उसी से आकर्षित होता है। भगवान् चुम्बक के समान हैं और हम सब लोग लोह की कीलों के समान हैं। हम उसके स्वरूप से आकृष्ट होते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं। वह भगवत्स्वरूप सब आकर्षणों का केन्द्र है। केवल उसकी सन्निधि प्राप्त करने की चेष्टा ही भक्ति-योग है। भक्ति के अतिरेक से सब लौकिक रूप और प्रलोभन दृष्टि और मन से गिर जाते हैं। यही भक्ति-मार्ग का वैराग्य तथा त्याग है। प्रभु की ओर आकर्षण होने से और सब आकर्षण विलीन हो जाते हैं। जब ऐसा बलवान् एवं अनन्त भगवत्प्रेम मानव हृदय में प्रवेश करता है तो वह वहाँ किसी दूसरे के प्रेम के रहने के लिए अवकाश नहीं छोड़ता है।+ भगवत्प्रेम का किसी के साथ द्वेष नहीं है, किन्तु भगवदनुराग के उदय होते ही तदितर में स्वतः ही वैराग्य हो जाता है। हरिप्रेमी अपने इष्ट (हरि) को अन्तर्यामी

+प्रीतम छवि नैनन बसी, परछवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥ .... रहीम

एवं व्यापक रूप से सब में देखता है* और सब भगवत्प्रेमियों को अपना परिवार समझता है। वह जहाँ कहीं विशालता और सुन्दरता देखता है वहाँ भगवान् ही की छवि-छटा मानता है। चन्द्र-सूर्य में भी वह उसी के प्रकाश को देखता है। वह तो भंयकर विषधर तक को अपना शत्रु नहीं मानता। सर्प-दश को भगवदाह्वान मानता है। ऐसे ही भक्त को सार्वभौम भ्रातृत्व-भाव प्राप्त होता है। घृणा असूया आदि निंदित भाव उसके अन्तःकरण से निकल जाते हैं। जिसको अन्तर्यामी रूप में सर्वत्र अपने प्रभु की दृढ़ प्रतीति होती हो वह किस पर क्रोध करे किससे घृणा करे और किससे असूया करे? उसके पास किसी दुर्भाव की खोज व्यर्थ है। उसके पास केवल दुर्भावों का ही अभाव नहीं है, अपितु अनेक सद्भाव भी भगवत्प्रेम के अतिरेक में विलीन हो जाते हैं।

अनन्य भक्ति

भगवान् को अनन्य भाव से प्रेम करना ही अनन्य भक्ति है। भगवान् में प्रेमभाव रखते हो तो अकेले उसी में रखिये। अन्य किसी में मत रखिये। जब तक ऐसा नहीं होगा अनन्य भक्ति नहीं कहलायेगी। दैनिक अनुभव में आने वाली बात है कि किसी काम में जब तक पूरा मन नहीं लगता—मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर भी विभक्त रहती है-उस में पूर्ण सफलता नहीं मिलती। किसी विस्मृत अनुभव के स्मरण की कितनी संभावना चित की एकाग्रदशा में होती है उतनी उसकी विभक्त दशा में नहीं होती। जब प्रेम का आलम्बन एकमात्र भगवान् होते हैं तो वृत्ति अनन्य संकलित होकर समस्त वेग और शक्ति से भगवान् ही में लगती हैं वही भाव उस भगवत्स्वरूप के योग्य भी ठहरता है। इस अनन्यता में अनन्य-भोग्यत्व, अनन्यशेषत्व और अनन्यधार्यत्व है। पीछे नकुल और कुलशेखर स्वामी के वचनों में हमने भक्ति के साथ-साथ एक पद कहा था, वह इसी अनन्यता का वाचक है। अन्यत्र जीव और ईश्वर के मध्य जिस भर्तृ-भार्या-सम्बन्ध की भावना का उल्लेख किया जा चुका है यह भी अनन्यता ही की ओर संकेत करती है। जहाँ भार्या के प्रेम में अनन्यता नहीं है, वहाँ प्रेम में व्यभिचार है। इसी से द्रुपद ने अव्यभिचारिणी भक्ति के लिए प्रार्थना की है। वे कहते हैं—"कीटों पक्षियों, मृगों, सांप-केंचुओं, राक्षसों पिशाचों अथवा मनुष्यों में भी जहाँ कहीं मेरा जन्म हो, हे केशव! आपके प्रसाद ही से आपमें मेरी अचला एवं अव्यभिचारिणी भक्ति हो।"※

नारदजी ने एक ही वाक्य में निपटारा कर दिया है—"हरि की प्राप्ति केवल अनन्य भक्ति से हो सकती है. और सब तो विडम्बना है।"+ गीता में स्वयं भगवान् का वचन है—"हे पार्थ! मैं उस नित्ययुक्त योगी को सुलभ हूँ जो मुझे अनन्यचित्त होकर नित्यप्रति निरन्तर स्मरण करता है।"× गीता ही में अन्यत्र कहा गया है—"अनन्यचित्त से चिन्तन करते हुए

---

*'सियाराममय सब जग जानी' रामचरितमानस।

※ कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र।
जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥

+ "भक्त्यात्वनन्यया लभ्यो हरिरन्यत् विडम्बनम्।"

× अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ }—गीता

जो जन मेरी पूर्ण उपासना करते हैं उन नित्य-संलग्न भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह मैं करता हूँ।"*

भक्ति-योग के अधिकारी के लिए यह उचित है कि हृदय में उत्पन्न हुई मधुर वृत्तियों को अन्यथा न जाने दे। उनको अच्छी तरह वश में करके ऊँची गति देनी चाहिये। सर्वोत्तम गति वही है जिसमें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सके। हर्ष-शोक का उदय और लय धूप-छाँह की भाँति इस जीवन में प्रायः होता ही रहता है। धन, पुत्रादिक के अभाव में जब मनुष्य शोकातुर होता है तो समझिये कि उसने शोकवृत्ति को अन्यथागति दी, क्योंकि शोक का भक्ति-उपयुक्त व्यवहार भी तो होता है। शोक के उपयुक्त व्यवहार की दशा में मनुष्य शोकाकुल इसलिए होता है कि उसे सर्वोत्तम भगवत्स्वरूप की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई। यही शोक उसके मोक्ष का सहायक बनता है। अब आप इसलिए हर्षित होते हैं कि आपको थोड़े-से रुपये मिल गये तो समझिये कि आपने हर्षवृत्ति को उत्कृष्ट गति नहीं दी, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट भगवत्स्वरूप की सेवा में इस वृत्ति को नहीं लगाया। इसी प्रकार अन्यवृत्तियों में भी युक्त व्यवहार की आवश्यकता है। भक्त इतनी वृत्तियों में से एक को भी अन्यथा नहीं मानता है। वह तो सबको पकड़ कर उत्साहपूर्वक प्रभु-अभिमुख कर देता है। चित्रकलाविद् होने पर भक्त भगवान् के ही मनोहरतम चित्र बनाने के लिए उत्सुक एवं संलग्न रहता है। शिल्पनिपुण होने पर भगवान् की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाता है। कवि होने पर अपनी शक्ति का प्रयोग भगवद्गुणगीत बनाने में करता है और यदि वह गाना जानता है तो हरिगुणगान करता है। यदि निपुण मालाकार है तो सुन्दर और उत्तम पुष्पों की मनोहर माला गूँथ कर भगवद्विग्रह को सुशोभित करता है। आशय यह है कि भगवद्भक्त का जीवन भगवन्मय होता है वह भगवत्कैंकर्यपरायण होता है और भगवान् से यही चाहता है—'हे पुण्डरीकाक्ष! हमारा जीवन ऐसा कर दीजिए कि बँधी हुई अंजलि हो, झुका हुआ सिर हो, रोमांचित शरीर हो, गद्गदकंठ हो, साश्रु नेत्र हो और नित्य आपके युगल चरणारविंद के ध्यानामृत का आस्वादन करते रहें।"** उसके अन्तःकरण का भाव तो सदैव ऐसा रहता है—"निःसन्देह शरीर और सिर वही है जो कृष्ण को प्रणाम करने से धूलि लगा कर धवल हो गया है; अन्धकारमुक्त सुन्दर नेत्र वही हैं जिनसे हरि-दर्शन होते हैं, निर्मल चन्द्र और शंख सी उज्ज्वल बुद्धि वही है जो माधव का ध्यान करे और

---

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥]—गीता

** "बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना—
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्।"

अमृतवर्षिणी जिह्वा वही है जो पद-पद पर नारायण की स्तुति करे।'* जब ऐसा भाव हो जाता है तो भक्त अपने सब अंगों को इस प्रकार प्रेरित करता है—"हे जीभ! तू केशव का कीर्तन कर, हे चित्त तू मुरारि को भज, हे पाणिद्वय! तुम श्रीवर का अच्छी तरह अर्चन करो, हे श्रवण-द्वय! तुम अच्युत-कथा को सुनो; हे नेत्रद्वय! तुम कृष्ण के दर्शन करो, हे चरणद्वय! तुम हरि-मंदिर में जाओ, हे नासिके! तू मुकुन्द की चरण-तुलसी को सूँघ, और हे शिर! तू भगवान् के आगे झुक (भगवान् को प्रणाम कर)।"× कोई-कोई भक्त लोग प्राणान्त के पश्चात् भी अपने अवयवों के विषय में यही विचारते हैं—"भगवदवतार अपने कोमल चरणों से जिस रमणीक भूमि पर टहलते हैं उस भूमि में इस शरीर का पृथ्वीतत्त्व जा मिले; उनके स्नानागार में इसका जलतत्त्व मिले; उनके आवास और उपवन में विहरने वाली सुस्पर्श वायु में इस शरीर का वायुतत्त्व जा मिले; भगवत्तेज में इसका तेजस्तत्त्व जा मिले अथवा शीत ऋतु में जिस अग्नि से भगवान् तपते हैं उसमें इसका तेजस्तत्त्व जा मिले और भगवद्धाम और विग्रह के आकाश में इसका आकाशतत्त्व जा मिले और यह जीवात्मा भगवत्स्वरूप के कैंकर्य में जा पहुँचे तो बस इसी में पूर्ण कृतकृत्यता है।" यही भाव रसखान ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पशु हौं तो कहा वश मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु-मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन;
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।"

इन सब उक्तियों के पीछे एक आदर (श्रद्धा) का भाव रहता है। इसलिए भगवन्-मन्दिरों और पवित्र स्थानों में लोग शिर झुकाते हैं क्योंकि वहाँ भगवान् का पूजन होता है। धर्म-शिक्षकों के आगे भी इसीलिए शिर नवाते हैं कि वे भगवत्स्वरूप का उपदेश करते हैं। जिसके प्रति प्रेम न हो उसका आदर कौन करता है? इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में मनुष्य कितना सुख मानता है। वह विषयों से आकृष्ट होकर किसी भी भय में कहीं भी कूद पड़ता है। विषयों के प्रति हमारा आकर्षण जब भगवान् के प्रति हो जाता है तब वह भक्ति बन जाता है, किन्तु आकर्षण में वैसी ही तीव्रता और आकुलता होनी चाहिये। इसी भाव को तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया —

---

* "यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वै शिर-
स्ते नेत्रे तमसोज्झिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशंखधवला या माधवध्यायिनी
सा जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपदं या स्तौति नारायणम्।।"

× "जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं,
पाणिद्वन्द्व समर्चयाऽच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छांङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाऽधोक्षजम्।"

जो जन मेरी पूर्ण उपासना करते हैं उन नित्य-संलग्न भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह मैं करता हूँ।''*

भक्ति-योग के अधिकारी के लिए यह उचित है कि हृदय में उत्पन्न हुई मधुर वृत्तियों को अन्यथा न जाने दे। उनको अच्छी तरह वश में करके ऊँची गति देनी चाहिये। सर्वोत्तम गति वही है जिसमें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सके। हर्ष-शोक का उदय और लय धूप-छाँह की भाँति इस जीवन में प्रायः होता ही रहता है। धन, पुत्रादिक के अभाव में जब मनुष्य शोकातुर होता है तो समझिये कि उसने शोकवृत्ति को अन्यथागति दी, क्योंकि शोक का भक्ति-उपयुक्त व्यवहार भी तो होता है। शोक के उपयुक्त व्यवहार की दशा में मनुष्य शोकाकुल इसलिए होता है कि उसे सर्वोत्तम भगवत्स्वरूप की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई। यही शोक उसके मोक्ष का सहायक बनता है। अब आप इसलिए हर्षित होते हैं कि आपको थोड़े-से रुपये मिल गये तो समझिये कि आपने हर्षवृत्ति को उत्कृष्ट गति नहीं दी, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट भगवत्स्वरूप की सेवा में इस वृत्ति को नहीं लगाया। इसी प्रकार अन्यवृत्तियों में भी युक्त व्यवहार की आवश्यकता है। भक्त इतनी वृत्तियों में से एक को भी अन्यथा नहीं मानता है। वह तो सबको पकड़ कर उत्साहपूर्वक प्रभु-अभिमुख कर देता है। चित्रकलाविद् होने पर भक्त भगवान् के ही मनोहरतम चित्र बनाने के लिए उत्सुक एवं संलग्न रहता है। शिल्पनिपुण होने पर भगवान् की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाता है। कवि होने पर अपनी शक्ति का प्रयोग भगवद्‌गुणगीत बनाने में करता है और यदि वह गाना जानता है तो हरिगुणगान करता है। यदि निपुण मालाकार है तो सुन्दर और उत्तम पुष्पों की मनोहर माला गूँथ कर भगवद्विग्रह को सुशोभित करता है। आशय यह है कि भगवद्‌भक्त का जीवन भगवन्मय होता है वह भगवत्कैंकर्यपरायण होता है और भगवान् से यही चाहता है—"हे पुण्डरीकाक्ष! हमारा जीवन ऐसा कर दीजिए कि बँधी हुई अंजलि हो, झुका हुआ सिर हो, रोमांचित शरीर हो, गद्‌गद्‌कंठ हो, साश्रु नेत्र हो और नित्य आपके युगल चरणारविंद के ध्यानामृत का आस्वादन करते रहें।"** उनके अन्तःकरण का भाव तो सदैव ऐसा रहता है—"निःसन्देह शरीर और सिर वही है जो कृष्ण को प्रणाम करने से धूलि लगा कर धवल हो गया है; अन्धकारमुक्त सुन्दर नेत्र वही हैं जिनसे हरि-दर्शन होते हैं, निर्मल चन्द्र और शंख सी उज्ज्वल बुद्धि वही है जो माधव का ध्यान करे और

---

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥]—गीता

** "बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्‌गमैः
कण्ठेन स्वरगद्‌गदेन नयनेनोद्‌गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना—
अस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्॥"

अमृतवर्षिणी जिह्वा वही है जो पद-पद पर नारायण की स्तुति करे।'* जब ऐसा भाव हो जाता है तो भक्त अपने सब अंगों को इस प्रकार प्रेरित करता है—"हे जीभ! तू केशव का कीर्तन कर, हे चित्त तू मुरारि को भज, हे पाणिद्वय! तुम श्रीधर का अच्छी तरह अर्चन करो, हे श्रवण-द्वय! तुम अच्युत-कथा को सुनो; हे नेत्रद्वय! तुम कृष्ण के दर्शन करो, हे चरणद्वय! तुम हरि-मंदिर में जाओ, हे नासिके! तू मुकुन्द की चरण-तुलसी को सूँघ, और हे शिर! तू भगवान् के आगे झुक (भगवान् को प्रणाम कर)।"× कोई-कोई भक्त लोग प्राणान्त के पश्चात् भी अपने अवयवों के विषय में यही विचारते हैं—"भगवदवतार अपने कोमल चरणों से जिस रमणीक भूमि पर टहलते हैं उस भूमि में इस शरीर का पृथ्वीतत्त्व जा मिले; उनके स्नानागार में इसका जलतत्त्व मिले; उनके आवास और उपवन में विहरने वाली सुस्पर्श वायु में इस शरीर का वायुतत्त्व जा मिले; भगवत्तेज में इसका तेजस्तत्त्व जा मिले अथवा शीत ऋतु में जिस अग्नि से भगवान् तपते हैं उसमें इसका तेजस्तत्त्व जा मिले और भगवद्धाम और विग्रह के आकाश में इसका आकाशतत्त्व जा मिले और यह जीवात्मा भगवत्स्वरूप के कैंकर्य में जा पहुँचे तो बस इसी में पूर्ण कृतकृत्यता है।" यही भाव रसखान ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पशु हौं तो कहा वश मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु-मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन;
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥"

इन सब उक्तियों के पीछे एक आदर (श्रद्धा) का भाव रहता है। इसलिए भगवन्-मन्दिरों और पवित्र स्थानो में लोग शिर झुकाते हैं क्योंकि वहाँ भगवान् का पूजन होता है। धर्म-शिक्षकों के आगे भी इसीलिए शिर नवाते हैं कि वे भगवत्स्वरूप का उपदेश करते हैं। जिसके प्रति प्रेम न हो उसका आदर कौन करता है? इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में मनुष्य कितना सुख मानता है। वह विषयों से आकृष्ट होकर किसी भी भय में कहीं भी कूद पड़ता है। विषयों के प्रति हमारा आकर्षण जब भगवान् के प्रति हो जाता है तब वह भक्ति बन जाता है, किन्तु आकर्षण में वैसी ही तीव्रता और आकुलता होनी चाहिये। इसी भाव को तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया—

---

* "यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वै शिर-
स्ते नेत्रे तमसोज्झिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशंखधवला या माधवध्यायिनी
सा जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपदं या स्तौति नारायणम्॥"

× "जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं,
पाणिद्वन्द्व समर्चयाऽच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छांङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाऽधोक्षजम्॥"

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तरहि प्रिय लागहु मोहि राम ॥

जब भक्त का हृदय एक अत्यन्त मधुर व्यथा का घर बन जाता है, जब वह अपने प्रियतम भगवान् के बिना तड़पने लगता है तो समझिये कि उसका प्रेम सफल है। भक्त की यह मनोदशा 'विरह' के अन्तर्गत आती है। जब भक्त यह देखता है कि वह एकमात्र ज्ञेय अपने प्रियतम को न जान सका, न पा सका, तो उसका मन व्यवस्थित नहीं रहता, वह उन्मत्त हो जाता है। उसे कोई दृश्य सुन्दर नहीं लगता। किसी सांसारिक रूप में उसका आकर्षण नहीं होता। वह तन्मय हो जाता है और उसे उन्मत्त की भाँति प्रियतम ही प्रियतम दीख पड़ता है। यही मनोदशा भक्त की "एकरतिविचिकित्सा" है। प्रियतम की स्मृति हृदय को विह्वल बना देती है। भक्त तो भगवान् के सम्बन्ध में ही सुनना चाहता है और उसी का गुणगान करता रहता है। उसे किसी दूसरे की वार्ता ही अच्छी नहीं लगती।* उसका मैत्रीभाव उसी की ओर झुकता है जो केवल प्रभु की वार्ता करता है। कुछ और ऊँची मनोदशा में वह अपने जीवन को अपना नहीं समझता। वह उसका निर्वाह भगवान् के हेतु करता है। उसे यह जीवन इसलिए सुन्दर प्रतीत होता है कि वह भगवान् का मन्दिर है। उसमें और किसी की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? यह उस मन्दिर का सौभाग्य है कि उसमें भगवान् की प्रतिष्ठा है। उसके लिए यही मानव-जीवन की सार्थकता है। "जिसको सब देव नमस्कार करते हैं और तो और मुमुक्षु और ब्रह्मवादी तक भी"× वह तो भक्त का सर्वस्व है, प्राण है। भक्त उसके बिना अत्यातुर हो जाता है।

भक्त लोग भगवान् की सब विभूतियों को सद्भाव से देखते हैं, किन्तु उनकी एक रीति है कि वे एक-एक को पृथक्-पृथक् प्यार न करके सबके स्वामी परम प्रेमस्वरूप प्रभु में अपनी भक्ति स्थिर करते हैं। इसमें प्रेम स्वतः ही सर्वत्र फैल जाता है। इस स्थितिवालों को 'तदीयता' की प्रतीति होती है। जो कुछ है, सब प्रभु का ही है, वे ऐसा विचार करते हैं और उन्हें सब वस्तुओं में पवित्रता दीखने लगती है क्योंकि अपने प्रियतम का जो कुछ भी है वह प्यारा है। दैनिक अनुभव की बात है कि लोक में अपने प्रियतम की सब वस्तुएँ प्यारी लगती हैं। इसी प्रकार भक्ति के भगवान् में सम्पन्न हो जाने पर भक्त को सारा जगत् प्यारा लगता है; क्योंकि यह सब उस हृदयेश की विभूति है। इसी स्थिति में तुलसीदासजी कहते हैं—

"सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।"

एक रामभक्त से किसी ने पूछा—'यह स्थान किसका है?' वह बोला—'श्री रघुनाथजी का।' यह बाग किसका है?' 'श्री रघुनाथजी का।' 'ये दास किसके हैं?' 'श्री रघुनाथजी के।' इसी प्रकार वह अपनी सब वस्तुओं को रघुनाथजी की बताता चला गया। अन्त में पूछने वाले ने पूछा—'रघुनाथजी किसके हैं?' उसने उत्तर दिया—'मेरे।' जब सर्वस्व पर भगवदधिकार

---

* 'अन्या वाचः विमुञ्चथ'

× 'यं सर्वे देवा नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति'।

की मान्यता सिद्ध हो जाती है तभी समर्पण की भावना का उदय होता है। इसी भावना को कबीर के शब्दों में देखिये—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मेरा ॥

जो सर्वत्र 'सर्वभूतमय हरि' को देखते हैं, वे किसी को दुःख कैसे दे सकते हैं। उनका हृदय प्रेमप्रवाह का अखण्ड स्रोत बन जाता है। भक्त को और चाहिए भी क्या ? उसे तो अखण्ड प्रेम चाहिये। वह मोक्ष तक नहीं चाहता—

'भक्ति देहु अनपावनी, पद न चहौं निर्वान।'—तुलसीदास

ोंकि भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं—

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेमस्वरूप।
एकहि ह्वै द्वै मैं लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ॥—रहीम

क्त प्रेमप्रवाह में क्षणिक बाधा भी सहन नहीं कर सकता।*

जब अविच्छिन्न प्रेमधारा अनवरत प्रभु की ओर बहती है तो उस हृदयेश के अतिरिक्त केसी दूसरे को उसमें प्रवेश करने का अवकाश नहीं मिलता। उस समय माया के बन्धन टूटने लगते हैं और पवित्रता उज्ज्वल हो जाती है।

प्रायः लोकप्रेम का सामान्य आधार पारस्परिकता है। जहाँ बदला मिलता है, वहाँ यह बना रहता है। जहाँ बदला नहीं मिलता, वहाँ प्रेम में प्रायः शिथिलता एवं उदासीनता आ जाती है। यह स्वाभाविक प्रेम का लक्षण नहीं है। प्रेम के लिए प्रेम करना प्रेम का स्वाभाविक और उत्कृष्ट स्वरूप है। सत्प्रेम विनिमय और व्यापार से परे की वस्तु है। वह लेन-देन नहीं जानता। जब तक हृदय लौकिक आकांक्षाओं का आवास बना रहता है, जब तक वह इच्छामुक्त नहीं होता, तब तक प्रेम में गम्भीरता और अनन्यता नहीं आ सकती। अतएव सत्प्रेम का बदला कुछ नहीं है, केवल प्रेम है। जिस प्रकार सुन्दर दृश्य से आप कुछ याचना नहीं करते, वह केवल आपका आह्लादन करता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त भक्ति से कुछ चाहता नहीं है। वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। उससे उसे आनन्द मिलता है।

सच्चे प्रेम की अवस्था का एक परिचय यह है कि उसमें भय के लिए कोई अवकाश नहीं है। सच्चा प्रेम भय से नहीं होता। भय से शासन हो सकता है, निरंकुशता और स्वच्छन्दता पर अधिकार हो सकता है, परन्तु भय से प्रेम का उदय नहीं हो सकता। जिस प्रेम को भय से माना जाता है वह सच्चा प्रेम नहीं, केवल दिखावे

* सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि, वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥—मार्कण्डेय

तथाच—

निमिषं निमिषार्द्धं वा प्राणिनां विष्णुचिन्तनम्।
कल्पकोटिसहस्राणां ध्यानमेकं विशिष्यते ॥—अगस्त्यजी

का होता है। भय के ऊपर प्रेम की सदा विजय होती है। मृत्यु कितनी भयकर है, किन्तु प्रेम-विजित सतियो का हृदय उससे तनिक भी विचलित नही होता। हो सकता है कि कोई स्त्री कुत्ते के भौंकने तक से घर छोड कर निकल भागे, किन्तु ऐसे उदाहरण है जिनमे ऐसी स्त्रियो ने सिंह के आक्रमण के समय प्रेम के आवेश में अपने शिशु की रक्षा के लिए अपने प्राण तक खो दिये हैं। इस प्रकार भय को प्रेम जीत लेता है। प्रेम-मार्ग मलिन और दुर्बल नही है। वह तो अति निर्मल और सबल है। इसलिए सच्चे भक्त निर्भय-पद को प्राप्त होते हैं। श्री यामुनाचार्य स्वामी ने भक्त के लिए 'गतभीः' और 'अभीः' विशेषणों का प्रयोग किया है जो उचित है। भय में कुछ दुःख का अंश रहता है और प्रेम अथवा भक्ति मे आनन्द की लहरें उठती है जिनका दुःख के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता है।

सत्प्रेमदशा का तीसरा परिचय यह है कि आश्रय को (भक्त को) आलम्बन (भगवान्) के समान और कोई नही दीखता। जो अपनी दृष्टि में सर्वोत्तम नही उसके साथ सर्वोत्तम प्रेम कैसे किया जा सकता है। कभी-कभी अयोग्य स्थल में भी प्रेम हो जाता है, किन्तु प्रेमी के विचार मे प्रिय सर्वोत्कृष्ट होता है। लैला के प्रति मजनूँ का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् के रूप, गुण और विभूति अद्वितीय हैं। उनकी कहीं समता नहीं है। ऐसे भगवान् में जिसका स्वाभाविक प्रेम हो जाता है, वह मनुष्य सुबुद्धि हो चाहे अबुद्धि, महात्मा चाहे दुरात्मा पुरुष चाहे स्त्री, पढा-लिखा हो चाहे कुपढ, उसका सर्वस्व भगवान् ही होता है—वह भगवान् जिसमे सौंदर्य, विशालता और सामर्थ्य आदि पूर्ण है, जिसका समकक्ष कोई और नही है। ऐसा प्रेमी स्वार्थ और भय की परिधि से बाहर अयाचन्त होकर अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर देता है। जब भक्ति निर्भय हो जाती है और आत्मसमर्पण की भावना दृढ बन जाती है तो ऐसे प्रश्न नही उठते कि 'परमेश्वर युक्तियो से सिद्ध हो सकता है या नहीं ? 'वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है या नहीं ?' प्रेम मे एक विचित्र मधुरता हुआ करती है जो मनुष्य की प्रकृति को हिला देती है और जो उसके अस्तित्व के प्रत्येक परमाणु मे व्याप्त हो जाती है। तब स्वतः ही उसका प्रभु से सम्बन्ध-भाव सजग हो जाता है। इसी दशा मे किसी भक्त को यह भाव प्रत्यक्ष हो जाता है कि "प्रभु ही एकमात्र पुरुष है, इतर हम सब स्त्री हैं।" किसी को यह भाव प्रत्यक्ष होता है कि प्रभु पिता है हम सब उसकी सन्तान हैं।" इसी प्रकार किसी को दास्य भाव और किसी को सख्य भाव प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रभु से बढ़ कर न कोई सुन्दर है, न विशाल है, न विभूतिमान् हैं, न दयालु है, न पवित्र है, न उदार है, न मृदु है, न मधुर है, न सामर्थ्यवान् है, और न प्रियदर्शन है तथा जिस प्रेम-सागर मे सब भक्तो के हृदयो की प्रेम-सरिताएँ गिरती हैं, ऐसे प्रियतम के सिवा और कौन है जो पति बनने के योग्य ठहरे ? अथवा स्वामी, सखा या बन्धु बनने की योग्यता भी किसमे है ? ऐसी उत्तम भक्ति की दशा में मुक्ति की कौन परवाह करता है ? भला जो भक्त भगवान् के परम पावन प्रेमस्वरूप मे विलीन हुआ बैठा है अथवा परम-पवित्र प्रेम की उन्मत्तता का आनन्द भोग रहा है वह मुक्ति-भुक्ति की परवाह ही कब कर सकता है ? वह तो नित्य-निरन्तर प्रवाहमान भक्ति-

रस की धारा चाहता है। उसे मुक्ति-भुक्ति की वांछा नहीं होती। वे तो उसके भक्ति-भाव की दासी बनी रहती हैं। श्री यामुनाचार्य जी भगवान् से निवेदन करते हैं—

'हे भगवन्! जिस प्रकार मुझको मुझमें नित्य रहने वाली भवदीयता का आपने स्वयं बोध कराया है, वैसे ही कृपा करके अनन्यभोग्यता भक्ति भी मुझे प्रदान कीजिये।''*

ऊपर श्री आचार्यजी ने भक्ति को बोध (ज्ञान) से ऊँचा माना है क्योंकि उनकी तृप्ति केवल बोध से नहीं होती। वे तो अनन्यभोग्यता भक्ति चाहते हैं; अतएव वही उनका साध्य है।

भक्ति और ज्ञान

जिस प्रकार प्रयाग के ज्ञान से (प्रयाग कहाँ है कैसा है?) ही प्रयाग पहुँचना संभव नहीं है, चलने पर ही प्रयाग का मिलना संभव है। उसी प्रकार भगवान् भक्ति से मिलता है, ज्ञान से नहीं मिलता। यहाँ भक्ति ही गति है। इसीसे जीवात्मा परमात्मा की ओर खिचता है। स्वरूप तथा सम्बन्ध का ज्ञान होने से बोध अवश्य होता है, परन्तु दो वस्तुओं के बीच जितनी दूरी होती है वह उतनी ही बनी रहती है। जैसा कि ऊपर के उदाहरण से व्यक्त है। बोधमात्र से बीच की दूरी हटकर समीपता नहीं आ जाती। जीवात्माओं के आपस में समीप खिच आने की शक्ति को प्रेम कहा जा सकता है, किन्तु परमात्मा की ओर जीवों के खिचने की शक्ति को 'भक्ति' कहना ही अधिक उपयुक्त है, यद्यपि उसे प्रेम संज्ञा देने में कोई हानि नहीं है।

कुछ ज्ञानवादियों का कहना है कि जीव के उद्धार के लिए ज्ञान के सिवा कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। यहाँ ज्ञान का अभिप्राय और भक्तिक्षेत्र में उसकी संगति का समझ लेना आवश्यक है। इस मंत्र को देखिये—"वेदाहमेतं पुरुषं..................नान्यः पन्था विद्यते।" इसमें चूल्हे-चक्की अथवा जीव को ईश्वर मानने का नाम तो ज्ञान कहा नहीं है। 'तमेव' कहकर केवल परमात्मा का ज्ञान लिया है जिसका समावेश अन्यत्र कहे हुए नौ सम्बन्धों में से ज्ञातृज्ञेय-भाव में ही सकता है। उसका प्रयोजन यही है कि ज्ञेय (जानने योग्य) एकमात्र परमात्मा है। गीता में कृष्ण ने अपने इस वाक्य में स्वयं घोषित किया है—"सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्यः" (सब वेदों में जानने योग्य मैं ही हूँ) "वेद-वेद्ये परे पुंसि" से भी यही भाव व्यक्त होता है कि 'वेद में जानने योग्य परमात्मा ही है।' यदि प्रयाग के यात्री को प्रयाग का ज्ञान नहीं है तो यह संभव है कि वह रावलपिंडी पहुँच जाए। इस अज्ञानयुक्त कार्य से यात्री का अनिष्ट होगा। इसी प्रकार मानव, यह जाने विना कि भक्ति करने योग्य एक परमात्मा ही है', भक्ति करने लगे तो आलम्बन में भूल होने से संसार-बन्धन उच्छिन्न नहीं होता। इसीलिए 'ज्ञान के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है', यह वाक्य भक्ति-पद्धति के साथ असंगत सिद्ध नहीं होता। यदि यात्री ने पहले से ही अपना मुख प्रयाग की ओर कर रखा है तो रावलपिंडी पहुँचने की बात ही कहाँ उठती है? स्वरूप तथा सम्बन्ध-ज्ञान के ठीक-ठीक होने की दशा में भक्ति विशेष सुगम बन जाती है। इसी कारण भगवान् कृष्ण ने गीता में ज्ञानी भक्त को सबसे अच्छा कहा है।

---

*"अवबोधितवानिमां तथा मयि नित्यां भवदीयतां स्वयं।
कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे॥"

ज्ञान-पक्षधरों का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञान में ही हो सकती है, भक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उन्हें आवश्यकता की प्रतीति ही क्यों हो ? उनके चिन्तन की पद्धति ही दूसरी है। पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति नाम गति (चलना) का है। गन्तव्य गति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जब चलोगे तभी पहुँच सकोगे। जिनके मन में चलना है ही नहीं उनके लिए पहुँचने की बात भी व्यर्थ है। भक्ति-मार्ग में जीव अणु है। उसका परस्वरूप वैकुण्ठनाथ की सन्निधि में पहुँचना है। यही उसका अन्तिम एवं एकमात्र लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने के लिए मध्यवर्तिनी दूरी को मिटा कर वासुदेव के सान्निध्य में ले पहुँचने वाली शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति केवल भक्ति में है, और किसी में नहीं। जो लोग केवल ज्ञान में मोक्ष मानते हैं उनके मत से जीवात्मा और परमात्मा दास-स्वामी के नित्य सम्बन्ध से युक्त दो वस्तु ही नहीं है। वे आत्मा को एक और विभु मानते हैं। आत्मा की विभुता से तात्पर्य है कि एक ही आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। जो सच्चिदानन्द नाम से विख्यात है उसमें यत्र-तत्र कल्पित अज्ञान के भ्रमर (चकपहिए) पड़ गये हैं। वह भ्रान्त अंश जीव नाम से अपनी कल्पना करता है। जब अज्ञान का भँवर टूटता है तो ज्ञान की सहजावस्था ही मुक्ति है। कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार घट के फूटने पर घटाकाश मठाकाश में विलीन हो जाता है अथवा मठ के टूटने से मठाकाश महदाकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार उनके विचार में, जीवात्मा और परमात्मा की व्यवस्था है। उनका मत है कि घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश वास्तव में एक ही हैं। सब में एक ही आकाश की व्याप्ति है। भिन्नता केवल घट-मठादि की उपाधि से प्रतीत होती है। इसी प्रकार एक ही विभु (आकाश के समान व्यापक) आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। केवल अज्ञान की उपाधि से नानात्व आभासित हो रहा है। अज्ञान के हटते ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं होती। मोक्ष की यह कल्पना ही विचित्र है। भक्त लोग इस मोक्ष की कभी इच्छा नहीं करते। न यह शायद उनकी कल्पना में ही कभी आता है। भक्ति-क्षेत्र में जीवात्मा को अणु माना जाता है। उसका मायामण्डल के बाहर परमात्मा के दिव्य मंगल विग्रह की सन्निधि में पहुँचना ही मोक्ष है। इसके लिए भक्ति की आवश्यकता है क्योंकि परमात्मा के समीप पहुँचाने वाली शक्ति यही है।

भक्ति-क्षेत्र में ज्ञान-क्षेत्र की अभेददृष्टि विकल सिद्ध होती है। भक्त जीवात्मा और परमात्मा में भेद देखता है, दोनों के बीच में एक दूरी देखता है। उसी दूरी को मिटाने के लिए 'भक्ति' की शक्ति काम करती है। वेद-शास्त्रों में ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे 'भेद' सिद्ध होता है। वेद के वाक्य को देखिए—

"आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो"

पुनश्च,

"पृथगात्मानं प्रेरितं च मत्वा"

इसमें जीवात्मा और परमात्मा की भेद-सिद्धि होती है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि जीव अणु है और भगवान् शुद्ध अन्तर्यामी है। जीव परिणामी है और परमात्मा अपरिणामी है।

दोनों अज हैं। बद्ध जीव कर्मादि के फल से माया-बन्धन में रहते हैं, किन्तु परमात्मा माया-बन्धन से बाहर है। वह माया का स्वामी है। भक्ति दास को माया के बन्धन से निकालकर परमात्मा के समीप ले जाने वाली शक्ति है। ऐसी शक्ति का परित्याग नहीं किया जा सकता। परित्याग उसी वस्तु का करना चाहिए जो मिथ्या हो, अनित्य हो। यदि माया का बन्धन भी मिथ्या मान लिया जाए तो भक्ति को भी मिथ्या माना जा सकता है, किन्तु आप्त-शास्त्र-वाक्यों से यह सिद्ध है कि परमात्मा, जीवात्मा और माया, तीनों नित्य हैं, तीनों सत्य हैं। परमात्मा धारक है, नियामक है, और शेषी है। जीवात्मा तथा माया धार्य हैं, नियाम्य हैं तथा शेष है। नित्य जीव नित्य विभूति का आनन्द भोगते हैं, माया-बन्धन में नहीं आते। मुक्त जीव माया-बन्धन को छोड़ चुके हैं और बद्ध जीव माया में बँधे हुए हैं। माया परमात्मा की है। परमात्मा उसे जिस जीव से हटाना चाहता है, हटा देता है। परमात्मा का दिव्य मंगल विग्रह माया-मण्डल से परे है। जीव को उस विग्रह का दर्शन मिलना चाहिए, उसकी सान्निधि में पहुँचना चाहिए। यह सिद्धि भक्ति से मिलती है।

परभक्ति, परज्ञान और परमा भक्ति

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि जो जानने योग्य है, उपासना करने योग्य है, भक्ति करने योग्य है अथवा प्राप्त करने योग्य है, वह परमात्मा ही है। यह ज्ञान वेद-शास्त्रों द्वारा होता है, किन्तु यह ज्ञान ऐसा है जैसा चित्र में प्रयाग-दर्शन। मुण्डकोपनिषद् में लिखा भी है;—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते—अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग कहते है कि जानने योग्य विद्या दो प्रकार की है : परा (ऊँची) और अपरा (नीची)। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष—यह अपरा है, तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा है। इस दृष्टि से वेद-शास्त्र भी जब तक एकमात्र ज्ञेय भगवान् का ज्ञान नहीं कराते, अपरा विद्या ही ठहरते हैं। परा विद्या इससे ऊँची ठहरी, क्योंकि इससे परमात्मा जाना जाता है। यह भी ज्ञान ही है, किन्तु वैसा ही जैसा चित्र द्वारा प्रयाग का ज्ञान। चित्र द्वारा भी ज्ञान तो प्रयाग का ही हुआ, अजमेर का नहीं; परन्तु चित्र-दर्शन और साक्षात्-दर्शन में अन्तर है। प्रयाग को चित्र में देखकर हम अपने को प्रयाग में पहुँचा हुआ नहीं मान सकते, किन्तु चित्र में प्रयाग देख कर एक लक्ष्य अवश्य बन जाता है। उसके देखने की लालसा अवश्य सजग हो जाती है। प्रयाग दर्शनीय स्थल है, अवश्य देखना चाहिए—यह भाव जागृत हो जाता है। इस प्रकार का पूर्ण अनुराग 'पराभक्ति' है। इसको साक्षात्कार-अभिनिवेश कहते हैं। फिर प्रत्यक्ष-दर्शन होने पर 'पर ज्ञान' की अवस्था कहलाती है। प्रत्यक्ष-दर्शन के उपरान्त सेव्य-स्वरूप के प्रति अत्यन्तानुरक्ति (ऐसी अनुरक्ति कि किंचिन्मात्र अन्तर न रहे) ही परमाभक्ति है। इसको अनुभवाभिनिवेश कहते हैं। इस विषय के समझने के लिए भर्तृहरि-शतक का यह उदाहरण उपयुक्त है—

आदर्शने दर्शनमात्रकामा, दृष्टे परिष्वङ्गरसैकलोला. ।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्षां आशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥

यहाँ अदर्शन-दशा में दर्शनमात्र की कामना ही मानो परभक्ति है। दर्शन होना (साक्षात् ज्ञान) परज्ञान समझिये। फिर परिष्वंग रस के लिए एकमात्र लोलत्व एवं विग्रहाभेद की आशा (उत्कट इच्छा) ही मानो परमा भक्ति है। श्लोकगत लौकिक भावना को परमात्म में पलट देने पर परभक्ति, परज्ञान और परमा भक्ति के सुन्दर उदाहरण बनते हैं।

परमा भक्ति की शर्त यह है कि वह अव्यभिचारिणी हो। उसी के वश में प्रभु होते हैं। अव्यभिचारी भक्त के प्रति ही 'पत्रं, पुष्प, फल आदि' वचनों की घोषणा है। यह जानते हुए भी कि परमात्मा की कृपा सब पर होती है, भक्त लोग उसकी कृपा को अपनी ओर चाहते हैं। जीव एकमात्र परमात्मा ही का भोग्य है। अनेक होने पर भी जीव किसी अन्य के दास नहीं हो सकते। परमात्मा ही को इनका स्वामित्व प्राप्त है। यदि जीव इस स्वामित्व में किसी दूसरे को भी अवकाश देते हैं तो उन्हें व्यभिचार-दोष लगता है। इस दोष से परमात्मा मुक्त है। नाना जीवों में से प्रभु-कृपा एक पर या अनेक पर होने से प्रभु दोषी नहीं होते क्योंकि वे तो सबके एक ही स्वामी हैं। लौकिक व्यवहार में भी प्रायः ऐसा देखते हैं। एक पिता के दो छोटे-छोटे बालकों की कल्पना कीजिए। उनमें से एक पिता की गोद में बैठ कर, पिता की ओर अंगुलि का संकेत कर करके, सुनाता है—यह तो मेरे ही पिताजी हैं।" यह सुनते ही दूसरा भागकर पिता की गोद में आ चढ़ता है और वैसे ही संकेत से वही बात कहता है। प्रेम का बस यही स्वभाव है। गोपियाँ कृष्ण को जगन्नाथ रूप में नहीं भजती हैं, गोपीनाथ रूप में ही भजती हैं मानो गोपीनाथ कहने से भगवत्कृपा उनके ही भाग में आती हो। सच यह है कि प्रेम का मार्ग ही निराला है। पक्का प्रेमी अपने प्रिय के सिवा सब कुछ भूल जाता है। प्रिय का रूप, उसकी अलौकिक माधुरी ही प्रेमी की दृष्टि में भर जाती है। धन, कीर्ति आदि सब उसकी दृष्टि से गिर जाते हैं। इस दशा को प्राप्त करके ही प्रेमी गोपियों की दशा को समझ सकेगा। गोपियों की भक्ति परम प्रेमरूपा है।*

तत्त्वज्ञान की कोई मात्रा प्रेमोन्माद की समता नहीं कर सकती। तत्त्वज्ञान में शनैः शनैः लक्ष्य पर पहुँचने की शिक्षा दी जाती है, किन्तु प्रेम के प्याले से प्रेमी शीघ्र ही मद-विह्वल हो जाता है। आनन्दोन्माद छा जाता है। गोपियों का प्रेमोन्माद इसी प्रकार का था। काला-पीला, श्वेत-श्याम, दायाँ-बायाँ, ऊँचा-नीचा जो कुछ था, बस कृष्ण था। पत्ती-पत्ती और कण-कण में कृष्ण ही की माधुरी दृष्टिगोचर होती थी। गोपियों को यह जानने की परवाह नहीं थी कि कृष्ण सब जगत् के स्वामी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्व-व्यापक हैं वा अत्यन्त महान् हैं। वे तो कृष्ण-स्वरूप को केवल अनन्य प्रेम समझती थीं और गोपाल जानती थीं। ऐसे भाव के सामने मोक्ष भी तुच्छ है।

---

*"सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम्।"

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार परमात्मा की न्याय-व्यवस्था विशृंखल नहीं होती ? यह माना हुआ सत्य है कि शुभाशुभ कर्मों के शेष रहते हुए मोक्ष संभव नहीं है। तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि गोपियाँ मोक्ष की दशा में थीं, अथवा उससे भी ऊँची दशा प्राप्त कर चुकी थीं ? यह मानना भी क्या समुचित होगा कि गोपियों के संचित कर्म उसी समय समाप्त होने को आ गये थे।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इससे परमात्मा की न्याय-व्यवस्था नहीं बिगड़ती। ध्यानपूर्वक दृक्पात करने पर विदित हो जाता है कि उक्त न्याय-व्यवस्था भी ऐसे भक्ति-भावों की दासी हो जाती है। एक श्लोक में यह स्पष्ट हो गया है कि 'कृष्ण-स्वरूप के चिन्तन से एक गोपी को इतना भारी आह्लाद हुआ कि उसके सब पुण्य समाप्त हो गये और उसकी अप्राप्ति में इतना भारी दुःख हुआ कि उसके सब पातक समाप्त हो गये। इस प्रकार वह गोपी 'मुक्त' हो गई।"÷

भक्ति के प्रकार

भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं×:—(१) श्रवण। (२) कीर्तन (३) स्मरण, (४) पाद-सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य, और, (९) आत्म-निवेदन। इन भावों का सम्बन्ध विष्णु से है अर्थात् ये सब भाव नारायण में होने चाहिए।

भगवद्विषय का सुनना 'श्रवण' है, भगवद्गुण का कथन 'कीर्तन' है और भगवद्गुणों की स्मृति ही 'स्मरण' है। भगवच्चरणों का सेवन ही 'पाद-सेवन' है। भगवत्-शरीर (प्रतिमा आदि का) प्रसाधन (विलेपनादि) 'अर्चन' है। भगवान् की स्तुति को वन्दन कहा जाता है। भगवान् के प्रति 'सेव्य' भाव रख कर अपने को 'सेवक' रूप में स्वीकार करना 'दास्य' भाव है। भगवान् को 'सखा' (मित्र) रूप में स्वीकार करना 'सख्य' भाव है और भगवान् को आत्म-समर्पण कर देना 'आत्म-निवेदन' है।

१. प्रेमियों का आचरण ही विचित्र होता है। उनको अपने प्रियतम की 'चर्चा' सुनना जितना सुहाता है उतना अन्य किसी की 'चर्चा' सुनना नहीं सुहाता। जहाँ प्रियतम के रूप-स्वरूप, गुण-विभूति का प्रसंग होता है वहाँ से परम प्रेमियों के कान हट ही नहीं पाते। कर्ण 'नान्यं शृणोमि' कहकर प्रेमी के पूताचार को प्रतिष्ठित करते हैं। कुलशेखर स्वामी अपने श्रवणों को अच्युत-कथा ही के सुनने का आदेश देते हैं (अच्युत-कथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु')। यह सत्य है कि मनुष्य के 'बोध' पर 'श्रवण' का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इस कारण भगवद्-

÷तच्चिन्ताविपुलाह्लाद क्षीणपुण्या च या तथा,
तदप्राप्तिर्महादुःखविलीनाशेषपातका ।
निःश्वासतया मुक्तिगतान्या गोपकन्यका ॥

×श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भागवत, सप्तम स्कंध

विषय सुनना ही उचित है। भागवत-चतुर्थ-स्कंध में कहा भी है—'हे नाथ! जहाँ आपके चरणारविंद का आसव (मकरन्द) न हो, ऐसी कामना मैं न करूँ। यदि (प्रसन्न होकर) आप मुझे वर देते हैं तो यह दीजिए कि सन्तजनों के अन्तर-हृदय से मे मुख द्वारा स्रवित (उन आसव) का पान करने के लिए मेरे अयुत (दस सहस्र) श्रवण हों।'[1]

श्रवणविषयक इस उक्ति में तथ्य है। यदि भक्तों से भगवच्चरित्र न सुना जाय अथवा गुरु से सदुपदेश न सुना जाय तो फिर अवलम्ब किसका लिया जाय? इसी भाव को यह चौपाई व्यक्त करती है—

श्रवण किये बिन नर कह ध्यावैं।
जैसे अन्ध न मारग पावैं॥
श्रवण सुने बिन कछु न जानै।
बिन जाने वस्तु न पहिचानैं॥
बिना श्रवण अनुराग न होय।
यह निश्चय जानों सब कोय॥

२. *यह कहा जा चुका है कि कीर्तन से अभिप्राय भगवद्विषयक कथन है।* हरिनाम-संकीर्तन, हरि-चर्चा, भगवद्गुण-वर्णन, अथवा भगवद्गुण-व्याख्यान, नारायण की स्तुति, भगवच्चरित्र-गान, भगवत्कथा-प्रसंग, भगवत्स्वरूप-व्याख्या आदि 'कीर्तन' के ही अन्तर्गत है। संजय का कहना है, 'कि आर्त, विषण्ण, शिथिल, भीत, घोर व्याघ्रादि में वर्तमान प्राणी (मनुष्य) 'नारायण' शब्द-मात्र का संकीर्तन करके दुःखविमुक्त होकर सुखी हो जाते हैं।''[2] 'किसी सन्त ने ठीक ही कहा है—

कीर्तन-महिमा कही न जात।
अजामेल की सुन लो बात॥
यह रसना है मुख में चाम।
कृष्ण-कीर्तन बिन बेकाम॥

कर्ण का कहना है कि ''मैं अन्य कुछ बोलता ही नहीं, (नान्यं वदामि) अत्रि का उपदेश भी 'सदा गोविन्द-कीर्तन' है। एक महात्मा को परमात्मा से प्रार्थना है कि, हे मुकुन्द! मुझे श्रीवल्लभ, वरद, दयापर, भक्त-प्रिय, भव-लुण्ठन-कोविद, नाथ, नागशयन, जगन्निवास नामों का पद-पद पर आलाप करने वाला वर दे।''[3] वसिष्ठ का वचन है कि ''जिसकी वाणी पर

---

१ तत्प्यहं नाथ न कामये क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तरहृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥
(भाग०, स्कंध ४,)

२ आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु व्याघ्रादिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य 'नारायण' शब्दमात्रं विमुक्तदुःखा सुखिनो भवन्ति॥

३ श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति भक्तप्रियेति भवलुण्ठनकोविदेति।
नाथेति नागशयनेति जगन्निवासेत्यालापिनं प्रतिपदं कुरु मां मुकुन्द॥

'कृष्ण' यह मंगल नाम रहता है, उसके पातक उसी क्षण भस्म हो जाते हैं।"[१] लोमहर्षण का कहना है कि "मैं निर्मल नाम नारायण का उच्चारण करता हूँ।"[२] गर्गाचार्य का मत है कि 'नारायण' यह मन्त्र है और वाणी वशवर्तिनी है, तो भी लोग घोर नरक में पड़ते हैं, यह अद्भुत हैं।"[३] अर्थात् मनुष्य 'नारायण' नाम का संकीर्तन करे तो नरक में कभी नहीं पड़ सकता। 'नारायण' नाम का संकीर्तन भी कठिन नहीं है क्योंकि वाणी अपने वश में है। आश्चर्य तो यह है कि लोग फिर भी नाम-कीर्तन नहीं करते और घोर नरक में गिरते जाते हैं। एक महात्मा का वचन है कि अमृत-वर्षिणी जिह्वा वह है जो पद-पद पर नारायण की स्तुति करती है। पराशर का वचन है कि "हरि—इन दो अक्षरों का उच्चारण जिसने एक बार भी कर लिया वह मोक्ष-गमन के लिए मानों तैयार ही है।"[४] पौलस्त्य ने कहा है कि "हे रस का सार जानने वाली मधुर-प्रिय जिह्वा, तू 'नारायण' नाम के पीयूष का निरन्तर पान कर।"[५] न्वन्तरि तो सकल रोगों की एकमात्र औषधि 'अच्युतानन्द गोविन्द' को ही मानते हैं। वे कहते कि "अमोघानन्द वाले गोविन्द नाम के उच्चारण की भेषज से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, ह मैं सत्य कहता हूँ।"[६] शौनकादि अन्य महापुरुष भी कीर्तन का माहात्म्य वर्णन कर चुके । जिस स्थान में भगवत्कीर्तन होता है वह स्थान अनेक तीर्थों का तीर्थ माना जाता है। इस वेषय में सूतजी कहते हैं—"जहाँ भगवान् की उदार कथा का प्रसंग है, वहीं गंगा है, वहीं ामुना है, वहीं वेणी है, वहीं गोदावरी है, वहीं सिंधु और सरस्वती है; और वहीं सब तीर्थ वसते है।"[७] भाषा में इसी आशय को एक कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जग्य करत तप करत कष्ट करि। बहुत वर्ष तैं ह्वैं प्रसन्न हरि।
सो कीये कीर्तन लघु काल। रीझत थोरे माहिं दयाल॥"

---

१ कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटयः॥

२ "वदामि नारायणनाम निर्मलम्।"

३ नारायणेति मंत्रोऽस्ति वागस्ति वशवर्तिनी।
तथापि नरके घोरे पतंतीत्येतदद्भुतम्।

४ "सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥"

५ हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥

६ अच्युतानन्दगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

७ तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र यत्राऽच्युतोदारकथाप्रसंगः॥
"स जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपदं या स्तौति नारायणम्।"

भागवत एकादश स्कंध में भी यह लिखा है—"हे राजन्! इस दोष-निधि कलियुग का एक बड़ा गुण है कि भगवान् के कीर्तन मात्र से ही बंध-मुक्त होकर पर-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है।"[1] 'मुकुन्दमाला' में भी लिखा है—

श्रीमन्नामप्रोच्य नारायणाख्यं के न प्राप्ता वाञ्छितं पापिनोऽपि।
हा नः पूर्वं वाक्प्रवृत्ता न तस्मिंस्तेन प्राप्तं गर्भवासादिदुःखम्।"

अर्थात् श्रीमन्नारायण नाम लेकर किस पापी ने 'वांछित' नहीं पाया? कष्ट की बात है कि उसने अपनी वाणी को पहले प्रवृत्त नहीं किया। इसी से गर्भवासादि दुःख मिले।

(३) स्मरण से अभिप्राय भगवद्विषय का चिंतन करना, भगवद्गुणों का याद करना, भगवत्स्वरूप में मन लगाना एवं भगवच्चरित्रों का ध्यान करना है। ब्रह्मा का वचन है कि 'राग से विमुक्त, इस लोक और उस लोक को जानने वाले जो मानव सतत सुर-गुरु नारायण का स्मरण करते हैं, मुक्तपाप वे चेतन उस ध्यान से माता के पयोधर-रस को पुनः पान नहीं करते।"[2] कर्ण कहते हैं कि "अन्यं न चिन्तयामि" अर्थात् भगवान् ही का चिंतन करता हूँ, दूसरे का नहीं। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥

अर्थात् 'कृष्ण-कृष्ण', इस प्रकार जो मुझको नित्य प्रति स्मरण करता है, जल को भेदन कर निकले कमल की भाँति मैं उसका नरक से उद्धार कर देता हूँ।" इस विषय में विश्वामित्रजी कहते हैं—"मनुष्यों के मन में स्थित देव का जो नित्य ध्यान करता है उसको दानों से क्या, तीर्थों से क्या, तपों में क्या और यज्ञों से भी क्या?* महर्षि अत्रि भी 'गोविन्देति सदा ध्यानं' का ही समर्थन करते हैं। श्री शुकदेवजी का उपदेश भी यही है कि "अच्युत कल्पवृक्ष है, अनंत कामधेनु हैं, गोविन्द चिन्तामणि हैं: ऐसे हरि-नाम का चिन्तन करना चाहिए।"+ कश्यपजी ने पाप-संघात के उच्छेदन के लिए 'कृष्णानुस्मरण' का ही समर्थन किया है। वे कहते हैं—

कृष्णानुस्मरणादेव पापसंघातपंजरः।
शतधा भेदमाप्नोति गिरिर्वज्रहतो यथा॥

---

१ "कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्॥"

२ "ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकल्मषचेतनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति॥"

*किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः।
यो नित्यं ध्यायते देवं नराणां मनसि स्थितम्॥

+'अच्युतः कल्पवृक्षोऽसावनन्तः कामधेनवः।
चिन्तामणिश्च गोविन्दो हरिनाम विचिन्तयेत्॥

अर्थात् कृष्ण के अनुस्मरण-मात्र से पाप-संघात-पंजर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते है, जैसे वज्रपात से पर्वत के टुकड़े हो जाते हैं। लोमहर्षण ने भी नारायण नामक अव्यय तत्त्व के स्मरण को मान्यता देते हुए कहा है—

'स्मरामि नारायणतत्त्वमव्ययम्'

अंगिरा ऋषि ने बड़े सबल शब्दों में 'हरि-स्मरण की महिमा निरूपित करते हुए कहा है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

अर्थात् दुष्ट चित्तों से भी किया हुआ हरि-स्मरण पापों को हरता है; जैसे विना इच्छा के भी स्पर्श की हुई अग्नि जलाती है।

वासुदेव के चिन्तन के अभाव को मार्कण्डेय ने बड़ी हानि एवं जड़ता माना है। "यदि वासुदेव का चिन्तन मुहूर्त वा क्षण भर भी न किया तो वह सबसे बड़ी हानि, सबसे बड़ा छिद्र (गर्त, दोष) एवं सब से बड़ी अंध-जड़-मूढ़ता है।"+

एक भाषा-कवि ने हरि-स्मरण की महत्ता को अपनी चौपाइयों में इस प्रकार कहा है—

श्रवण कीर्तन करै जु कोय। ताको फल हरि सुमिरन होय॥
हरि सुमरिन लाग्यो जब हौन। ताको हृदय कियो हरि भौन॥
अपनौ भवन बहुरि कै त्यागै। अति उज्ज्वल राखत अनुरागै॥

भागवत के ग्यारहवें स्कंध में भगवान ने स्वयं कहा है—

"विषयों का ध्यान करता हुआ चित्त विषयासक्त हो जाता है और मेरा स्मरण करता हुआ चित्त मुझ ही में आसक्त हो जाता है।"×

'मुकुन्दमाला' का उपदेश इस क्षेत्र में कितना सुन्दर है:—

नाथे धातरि भोगिभोगशयने नारायणे माधवे,
देवे देवकिनन्दने सुरवरे चक्रायुधे शार्ङ्गिणि॥"
लीलाशेषजगत्प्रपञ्चजठरे विश्वेश्वरे श्रीधरे,
गोविन्दे कुरु चित्तवृत्तिमचलामन्यैस्तु किं वर्तनैः॥"

अर्थात् 'नाथ में, कर्त्ता में, शेषशायी में, नारायण में, माधव में, देव में, देवकीनन्दन में, सुरवर में, चक्रायुध में, धनुर्धारी में, समग्र लीलाजगत्प्रपंच है उदर में जिसके ऐसे विश्वेश्वर में, श्रीधर में और गोविन्द में (तू) चित्तवृत्ति को स्थिर कर। अन्यों से क्या प्रयोजन? अन्यत्र परमा वैष्णवी सिद्धि को ध्यान या स्मरण से मिलने वाली कहा गया है—

+"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चांधजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥"

×"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु निषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥"

"ध्यायन्ति ये विष्णुमनन्तमच्युतं, हृत्पद्ममध्ये सततं व्यवस्थितम्।
उपासकानां प्रभुमीश्वरेश्वरं ते यान्ति सिद्धि परमां तु वैष्णवीम् ॥"

अर्थात् हृदयकमल के मध्य में निरन्तर निवास करने वाले, उपासकों के प्रभु, ईश्वरों के ईश्वर, अनन्त, अच्युत, विष्णु का जो लोग ध्यान करते है, वे परमा वैष्णवी सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

वास्तव में बुद्धि वही है जो परमात्मा के ध्यान में समर्थ है। एक महात्मा ने ऐसी बुद्धि की ओर इस प्रकार इंगित किया है—

"सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवध्यायिनी।"

("निर्मलचन्द्र और शंख के समान धवल बुद्धि वह है जो माधव का ध्यान करती है।"

४. पाद-सेवन—

इसका अभिप्राय है भगवच्चरणारविन्द का सेवन। इसकी महिमा अपार है। स्वामी यामुनाचार्य ने पाद-सेवन की महिमा इन शब्दों में लिखी है—

"यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरसु च भाति यस्मि-
न्नस्मन्मनोरथपथः सकलस्समेति ॥
स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत्
पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ॥

अर्थात् "भगवान् पुण्डरीकाक्ष के चरणारविन्द जो मेरे मस्तक पर और वेद के शिर पर प्रकाशमान है, जिनमें हमारे सब मनोरथमार्ग पहुँचते हैं, जो हमारे कुलधन और वंशपरंपरागत दैवत हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा।"

भगवच्चरणों की परम-शरण्यता के विषय में स्वामी यामुनाचार्यजी लिखते हैं—

"न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनो नान्यगतिः शरण्यः त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥

अर्थात् "मैं न तो धर्मनिष्ठ ही हूँ और न आत्मज्ञानी ही। आपके चरणारविन्द में भक्तिमान् भी नहीं हूँ। मैं अकिंचन और अनन्य गति हूँ। हे शरण्य! आपके चरणमूल की शरण में प्राप्त होता हूँ।

आशय स्पष्ट है कि जो ज्ञान, भक्ति और योग से विहीन है, जो दीन और अशरण है, उस आपके चरणों में शरण अवश्य मिलती है। किन्तु भगवच्चरणारविन्द की परिचर्या का सौभाग्य बड़ी असाधारण कक्षा में ही जीव को प्राप्त होता है। इस विषय में एक महात्मा की उक्ति है—

अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः।
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ॥

"मैं मर्यादारहित हूँ, क्षुद्र हूँ, चलमति हूँ, असूया उत्पन्न होने की भूमि हूँ, कृतघ्न हूँ, दुरभिमान हूँ, काम के वश में हूँ, वंचक (ठग) हूँ, निर्दय और पापिष्ठ हूँ, फिर इस अपार दुःख-सागर से कैसे उत्तीर्ण होकर आपके चरणयुगल की परिचर्या करूँ ?

एक अन्य स्थान पर भगवच्चरणों की महिमा का निरूपण इस प्रकार किया गया है:—

१. निराशकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तवपादपंकजम् ।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनंधयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति ॥
२. तवामृतस्यन्दिनि पाद-पंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥
३. त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलिः ।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥
४. उदीर्णसंसारदवाशुशुक्षणिं क्षणेन निर्वाप्य परां च निर्वृतिम् ।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिन्धुसीकरः ॥
५. विलासविक्रान्तपरावरालयं नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम् ।
धनं मदीयं तव पाद-पंकजं कदा नु साक्षात् करवाणि चक्षुषा ॥
६. कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पक ध्वजारविन्दांकुशवज्रलाञ्छन ॥
त्रिविक्रम ? त्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्द्धानमलं करिष्यति ।

१. हे महेश, आशा न देने वाले आपका चरण-कमल छोड़ने को कभी मेरा उत्साह नहीं होता है। स्तन्य-पान करने वाले शिशु को यदि उसकी माता रोष करके फेंक दे तो भी वह माता के चरणों को कभी नहीं छोड़ता।
२. जिसने अपनी आत्मा तेरे अमृत टपकाते हुए चरणारविन्दों में निवेशित कर दी है, वह किसी दूसरी वस्तु की इच्छा कैसे करे ? पुष्परस से पूरित कमल पर बैठा हुआ भ्रमर इक्षुरक की ओर देखता भी नहीं है। दक्षिण में इक्षुरक नाम का एक छोटा-सा वृक्ष होता है। वह कांटे वाला होता है। यदि भ्रमर उस पर जाकर बैठे तो उसका स्वरूप भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द को छोड़ कर दूसरी ओर को लगे हुए जीव का स्वरूप भी भ्रष्ट हो जाता है।
३. तेरे चरणों को उद्देश्य करके जब कभी, जो कोई भी, किसी प्रकार से भी एक वार भी अंजलि बांध ले, तो वे चरणारविन्द उसी समय सब अमंगलों को दूर करके निःसन्देह मंगल कर देते हैं।
४. तेरे युगल चरणारविन्दों के अनुराग रूपी अमृत-सागर का एक बिन्दु भी संसार की उठी हुई दावाग्नि को क्षणमात्र में शान्त करके उत्कृष्ट सुख प्रदान कर देता है।
५. ब्रह्मादिक और इन्द्रादिक के लोकों के विलास को परिमित करने वाले, प्रणाम करने वालों के दुःखों को एक क्षण में मिटा देने वाले आपके चरण-कमल मेरे धन हैं। उनका दर्शन मैं नेत्रों से कब करूँगा ?

६ हे त्रिविक्रम*! तेरे युगल चरणारविन्द, जिनमें शंख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, कमल, अंकुश और वज्र के चिह्न हैं, मेरे मस्तक को कब अलंकृत करेंगे ?

एक अन्य महात्मा भगवच्चरणों मे निश्चल भक्ति माँगते हुए कहते है—

नास्था धर्मे, न वसु-निचये, नैव कामोपभोगे ;
यद्यद् भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत्प्राथ्यं मम बहुमत जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

अर्थात् मेरा प्रयोजन न धर्म से है, न धन एकत्रित करने से है, और न काम के उपभोग से है। हे भगवन्, पूर्वकर्मो के अनुसार जो कुछ होता है, वह हो। हाँ, इतनी मात्र मेरी प्रार्थना है कि आपके युगल चरणारविन्दो मे मेरी निश्चला भक्ति जन्मजन्मान्तर मे भी बनी रहे।

अन्यत्र वे महात्मा चरण-भक्ति माँगने का सुन्दर कारण बताते हुए कहते है—

तृष्णातोये मदनपवनोद्भूतमोहोर्मिमाले,
दारावर्ते तनयसहजग्राहसंघाकुले च ।
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां नस्त्रिधामन्
पादाम्भोजे वरद भवतो भक्तिभावं प्रयच्छ ॥

अर्थात् हे भगवान्,हे वरद, संसार नाम वाले इस महासागर मे तृष्णा का जल है और मदन रूपी पवन से इसमें मोहरूपी लहरो की परम्परा उठी हुई है। इसमें दारा (स्त्री) रूपी भ्रमर है और यह संतति रूपी ग्राहो से व्याप्त है। इसमे डूबते हुए हमको अपने चरण-कमलो का भक्ति-भाव दीजिये।

एक अनुभवी कवि ने भी ऐसा ही लिखा है—

"कृतान्त (यमराज) की दूती जरा कर्णमूल के पास आकर कहती है कि लोगो, सुनो— पर-स्त्री, पर-द्रव्य की वाञ्छा छोडो और रमानाथ (भगवान् विष्णु) के पादारविन्द की सेवा करो** "

इस सब कथन का आशय संक्षेप में यह है कि भगवच्चरणारविन्द की सेवा सर्वोत्कृष्ट है और इसके द्वारा असंख्य प्राणी संसार-सागर से उत्तीर्ण हो गये है। भगवान् सर्वांगसम्पन्न हैं और सौन्दर्य तथा अन्य गुणो मे कोई अंग भी न्यून नहीं है तथापि सर्वसाधारण जीव-मात्र का संबंध भगवान् के चरण-कमलो ही से है।

---

* त्रिविक्रम—तीन पद उठाने वाले भगवान् का नाम 'त्रिविक्रम' है। यहाँ तात्पर्य यह है कि 'त्रिविक्रम' को 'पद' उठाने का अभ्यास है और उनका विक्रम प्रसिद्ध हो चुका है। अतएव त्रिविक्रम ही मेरे शिर पर चरण रखकर शोभित कर सकते हैं।

** कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूलं
समागत्य वक्तीति लोकाः श्रृणुध्वम् ॥
परस्त्रीपरद्रव्यवाञ्छा त्यजध्व
भजध्वं रमानाथपादारविन्दम् ॥

. अर्चन—

भगवदर्चन का माहात्म्य बहुत विलक्षण है, अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है। लिखा है कि "मन, वाणी और काया से उत्पन्न हुए ब्रह्महत्यादिक पाप तक शालिग्राम-शिला के अर्चन से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।+"

अर्चन में घोर पापों के नाश करने की शक्ति है। इसका प्रतिपादन यमराज की इस उक्ति से हो जाता है:—

नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषितः,
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥

अर्थात् 'नरक में पड़े हुओं को यम ने कहा कि क्या क्लेश दूर करने वाले केशव का तुमने अर्चन नहीं किया ?'

इससे यह स्पष्ट है कि केशव का अर्चन करने वाले नरक में नहीं जाते। वास्तविकता भी यही है। 'न देवः केशवात्परः'—व्यासजी का यह वाक्य सत्य है। स्वयं शिवजी ने केशव-नाम की यथार्थ संगति इस प्रकार वर्णन की है:—

कं इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्के संभूते तस्मात् केशव नामवान् ॥

'क' नाम ब्रह्मा का है और सब देहधारियों का ईश मैं हूँ और हम दोनों आपके अंक में हुए, अतएव आप 'केशव' नाम वाले हैं।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मजी ने उत्तम धर्म का निर्णय इस प्रकार किया है:—

"एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मत।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥

अर्थात् 'मेरे विचार में सब धर्मों में अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य भक्तिपूर्वक स्तवों-सहित पुण्डरीकाक्ष भगवान् का सदा अर्चन करे।'

इस विषय में अन्यत्र 'अर्चावतार' तथा 'साकार स्वरूप' के प्रकरण में बहुत कुछ कहा जा चुका है। वह समग्र विवेचन यहाँ पर जोड़ा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अर्चा-स्वरूप से जो सिद्धि मिल सकती है उसकी योग्यता तभी समझनी चाहिए, जब जीव भगवदर्चन करे। यह न भूल जाना चाहिए कि भगवदर्चन के बिना अपने स्वरूपानुरूप व्यवहार में भी त्रुटि रहती है, क्योंकि जीव भगवद्दास है और दासत्व इसके व्यवहार में आना चाहिए। माला, गन्ध, वस्त्र, नैवेद्य आदि पहले भगवान् को अर्पित करके फिर उनको प्राप्त करने पर ही जीव के अन्तः-करण पर भगवद्दासत्व यथार्थ रीति से खचित रह सकता है; अतएव 'अर्चना' में अर्पण की भावना से परिपुष्ट 'दासत्व' सिद्ध होता है।

+ "ब्रह्महत्यादिकं पापं मनोवाक्कायसंभवम्।
शीघ्रं नश्यति तत्सर्वं शालिग्राम-शिलार्चनात् ॥"

६. वन्दन—

वन्दन का अभिप्राय भगवान् को प्रणाम करना, उनके चरण-कमलो मे शिर झुकाना है । 'कृष्ण-प्रणामी न पुनर्भवाय' (कृष्ण को प्रणाम करने वाले का पुनर्जन्म नही होता) कह कर 'सुभद्र' ने वन्दन का माहात्म्य निरूपित किया है । शल्य ने 'वन्दन' की महिमा का गुणागान इन शब्दो में किया है—

> "अतसी-पुष्प-सकाशं पीतवाससमच्युत
> ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥"

अर्थात् गोविन्द को नमस्कार करने वाले निर्भय हो जाते हैं । उनको भय नही रहता, क्योकि 'भय' एक भाव है जिसका लय प्रणामी के नमस्कार मे हो जाता है । इसीसे 'भक्ति' की अनन्यता सिद्ध होती है । अनन्यता एक ही भाव की परिपूर्ण सिद्धि है । फिर अनन्यभक्ति में भय के लिए अवकाश कहाँ हो सकता है ? वन्दन भी अनन्यभाव से विमुक्त नहीं हो सकता । इसलिए वन्दन की बड़ी महिमा है । बड़े-बड़े महात्मा वन्दन के माहात्म्य को अपनी-अपनी अमर वाणी मे कह गये हैं—

१. 'वन्दे विष्णु सर्वलोकैकनाथम्'
२. 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्'
३. 'गोविन्दानन्त सर्वेश वासुदेव नमोऽस्तुते ।'

अश्वत्थामा का वचन है—

४. 'गोविन्द केशव जनार्दन वासुदेव विश्वेश विश्व मधुसूदन विश्वनाथ ।
श्री पद्मनाभ पुरुषोत्तम पुष्कराक्ष नारायणाच्युत नृसिंह नमो नमस्ते ॥'

धृतराष्ट्र कहते है—

५. "नमो नमः कारण वामनाय, नारायणायामितविक्रमाय ।
श्री शार्ङ्ग चक्राब्जगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ।"

द्रौपदी कहती है—

६. "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवाऽनन्त केशव,
कृष्ण विष्णो हृपीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ।"

पिप्पलायन का कहना है—

७. "श्रीमन्नृसिंहविभवे गरुड़ध्वजाय,
तापत्रयोपशमनाय भवौषधाय;
कृष्णाय वृश्चिकजलाग्निभुजङ्ग रोग
क्लेशान्ययाय हरये गुरवे नमस्ते ॥"।

अवन्ती कहती है—

८. कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणत. क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

और यामुनाचार्य स्वामी का वचन है—

९. नमो नमो वाङ्मनसातिभूतये,
नमो नमो वाङ्मनसैकभूमतये।
नमो नमोऽनन्त महाविभूतये,
नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे॥"

ऊपर की अनेक उक्तियों में से नवीं उक्ति का अर्थ अधिक ध्यान देने योग्य है। इस लोक में भगवान् के चार स्वरूपों को नमस्कार किया गया है।

१. प्रथम वह स्वरूप है जो मन और वाणी की अतिभूमि है। अर्थात् प्रभु के उस स्वरूप को पूर्णतः ग्रहण करने की सामर्थ्य न मन की है, न वाणी की। प्रभु के ऐसे स्वरूप को नमस्कार हो।

२. दूसरा वह स्वरूप है जो मन और वाणी की एकमात्र भूमि है अर्थात् मन और वाणी को प्रभु के उस स्वरूप के अतिरिक्त कुछ मिलता ही नहीं है जिसका वह चिन्तन अथवा वर्णन करे। चित् और अचित् की, जो नित्य और पृथक् हैं, स्थिति भी स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु इनका सब व्यवहार इनमें अन्तर्यामी के निवास से होता है। इनका नियामक और धारक वही अन्तर्यामी प्रभु है; अतएव अन्तर्यामी स्वरूप प्रधान रहने से मन-वाणी की जो कुछ एकमात्र भूमि है, वह प्रधानतः अन्तर्यामी प्रभु ही है। स्मरण करने की बात है कि दूसरा नमस्कार भगवान् के उस स्वरूप को किया है जो जीव का ईश्वर है और जीवेश्वर के सम्बन्ध में आधाराधेय-भाव तथा आत्मशरीर-भाव पहले ही निरूपित किया जा चुका है।

३. तीसरा वह स्वरूप हैं जो अनन्त और महाविभूति वाला है और जिसके ऐश्वर्य की कोई सीमा नहीं हैं।

४. चौथा वह स्वरूप हैं जो अनन्त दया का एकमात्र सागर है क्योंकि परमात्मा में ऐश्वर्यादि अनेक गुण रहते हुए भी जीवों का उद्धार तो उसके दयासागर होने से ही होता है।

इस प्रकार भक्ति के वन्दन-प्रकार का अमित माहात्म्य है। एक हिन्दी चौपाई में इस माहात्म्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"प्रभु-पद-कमलन जो सिर नावत।
ताहि श्याम आपुन अपनावत॥
वन्दन नित्य लाभ किन लूटैं,
वन्दन तैं बन्धन सब छूटैं।।"

७. दास्य—

यह भक्ति का वह स्वरूप है जिसमें जीव के स्वरूप की यथार्थता सिद्ध होती है। जीव को भगवद्दास होने पर भी सदा अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता, यद्यपि इस बोध का रहना अत्यावश्यक है। इसी भाव को लेकर कर्ण ने कहा है—

नान्य वदामि न शृणोमि न चिन्तयामि,
नान्य स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि ।
भक्त्यात्वदीय चरणाम्बुजमादरेण
श्री श्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम् ॥

'जीव की यथार्थता उसकी भगवद्दासता में है', इस उक्ति पर प्रश्न हो सकता है कि 'क्या वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेने पर भी भगवद्दासत्व बना रहता है ?' इसके उत्तर में यह कह देना ही पर्याप्त है कि भगवद्दासत्व इस जीव का परम सौभाग्य है । यदि ऐसा न होता तो 'दास्य भाव का इतना माहात्म्य क्यों होता और इसकी गणना 'नवधा' भक्ति में क्यों होती ? "सब जीव अपने आप ही परमात्मा के दास हैं । वे चाहे बन्धन-दशा में हों, चाहे मोक्ष-दशा में इनका अन्यथा लक्षण नहीं है ।"* यह बात समझने की भी है कि उत्कृष्ट दशा में अपने स्वरूप की उत्कृष्ट व्यवस्था मिटनी क्यों चाहिए ? एक महात्मा ने तो यहाँ तक कह दिया है—"आपके दास्य सुख के एकमात्र संगियों के स्थानों में तो (भले ही) मेरा कीट जन्म भी हो जाय, पर दूसरे स्थानों में मेरा जन्म ब्रह्मा रूप से भी न हो ।"°

इससे समझना चाहिए कि जिनको अपने में भगवद्दासत्व का बोध यथार्थ रीति से हो रहा है, उनका इतना बड़ा माहात्म्य है कि उनके संग से कीट तक को भगवद्धाम मिल सकता है, और इतरस्थानों में संभव है कि ब्रह्मा भी संसार-चक्र की नीची कोटियों में पहुँच जावें । उक्त श्लोक में यह भी देखने की बात है कि 'दास्य' शब्द के साथ 'सुख' शब्द लगा हुआ है जो लौकिक 'दासत्व' में निहित दुःख का विपरीत है । जीव का भगवदासत्व बहुत बड़ों से बड़ों को भी दुर्लभ है । एक महात्मा ने प्रार्थना की है—

"धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्ज,
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः;
विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं,
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ॥

अर्थात् 'हे परम पुरुष, श्रेष्ठ योगियों में अग्रगण्य, ब्रह्मा-शिव-सनकादिकों के ध्यान को भी अत्यन्त दूर तेरे दास्य भाव की जो मैं कामवृत इच्छा करता हूँ ऐसे अपवित्र, विनयरहित, निर्दय और निर्लज्ज मुझको धिक्कार है ।'

ऊपर के श्लोक में महात्मा ने भगवान् के परिजन-भाव को इतना ऊँचा बताया है कि ऐसे उत्तम कक्षा के महानुभाव होने पर भी उन्होंने अपने आपको उसके योग्य नहीं समझा इससे स्पष्ट है कि जीवों को भगवत्संबंध में दास्य-भाव की जितनी सत्प्रतीति होती रहे उतनी

*दासभूताः स्वतःसर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च ॥

°तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मास्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥

उत्तम है। इसीलिए महात्मा लोग अपने शरीर पर ऐसे चिह्न धारण किये रहते हैं, जैसे मस्तक पर तिलक रूप में भगवच्चरण की आकृति आदि। वे किसी भी अवयव को शेषत्व-भाव से वहिर्भूति नहीं देख सकते। इस विषय में एक महात्मा का वचन है कि—

"न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषभिलषितं
न चात्मानं नान्यात् किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत् सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥"

अर्थात् "हे नाथ! आपके शेषत्व-महोत्सव मे वहिर्भूत, एक क्षणमात्र भी न मै देह को सहन करता हूँ, न प्राणों को, न सुख को और न अशेष वाञ्छित पदार्थों को ही सहन करता हूँ। यदि ये आपको शेषत्व-विभव से बहिर्भूत हों तो हे मधु-मथन! मेरी यह प्रार्थना है कि इनके सैकड़ों टुकड़े होकर नाश हो जाए।"

यहाँ 'मधु-मथन' नाम का प्रयोग करके यह संकेत दिया है कि जिस प्रकार 'आपने मधु नामक राक्षस के सहज ही टुकड़े-टुकड़े कर दिये वैसे ही उक्त वस्तुओं के छिन्न-भिन्नीकरण में भी आपको परिश्रम न होगा।

८. सख्य—

इसका अभिप्राय परमात्मा के साथ 'सखा-भाव' या 'मैत्री' रखने का है। जिस किसी को यह यह पद प्राप्त होता है वह बड़ी उच्चकक्षा के आनन्द को प्राप्त करता है। अर्जुन, सुदामा, श्रीदामा आदि व्रज-गोप, और गोविन्द स्वामी आदि इसी भाव के भक्त हो चुके हैं। उनका भाग्य अति सराहना करने योग्य है। वत्स-हरण के समय इस भाग्य की इस प्रकार प्रशंसा की गई है:—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्॥

अर्थात् "जिन व्रजवासियों के सखा परमानन्द, सनातन, पूर्णब्रह्म हुए, उनका अहोभाग्य है।" एक भाषा का कवि इस भाव को व्यक्त करता हुआ कहता है—

ब्रह्मादिक जाकी पदरज ध्यावैं।
शीश छुवन को सोउ न पावैं॥
जो प्रभु सख्य ते भक्त रिझाये।
कांधे अपने ग्वाल चढ़ाये,
हारे आपुन जीते ग्वाल;
महिमा 'सख्य' तु भक्ति विशाल॥

अजड़ के भेद में भी जीवात्मा और परमात्मा—ये दो ही हैं। दोनों ही ज्ञानानन्द स्वरूप हैं। बद्ध जीवों का ज्ञान तथा आनन्द संकुचित रहता है। इसका हेतु माया-पाश है।

इसके कारण संसार-चक्र में पड़े हुए बद्ध जीव नित्यविभूति एवं नित्यानन्द से दूर माने जाते हैं, किन्तु नित्य जीव नित्य-विभूति में आनन्द से निवास करते हैं। उक्त माया-पाश से मुक्त होने के लिए भगवान् ने वेद-शास्त्रादि द्वारा संदेश दिया है और अपना पता सूचित करके मिलने के यत्न बताये हैं। परमात्मा में मनुष्यों का ऐसा भाव होना कि 'तू हमारा अत्यन्त प्रिय मित्र है', बहुत उच्च श्रेणी की बात है। भाव की उच्चता इसमें है कि मनुष्य अपना हृदय अपने मित्र के समक्ष खोलकर रख देता है और विश्वासपूर्वक जानता है कि मेरे दोषों से मेरे मित्र को ग्लानि कभी नहीं होगी, अपितु मित्र मुझे सहायता करने की सतत चेष्टा करेगा। यही भाव सखा रूप में भक्त का परमात्मा के प्रति बना रहता है। प्रेम की ताली दोनों हाथों से बजने वाली होने पर भी प्रेमी के सामने की वस्तु है। इसी भाव से उपासक और उसके उपास्य मित्र सर्वेश्वर के बीच प्रेम की अविरल गंगा बहती रहती है।

परमात्मा के प्रति सखाभाव होने पर भक्त अपने को परमात्मा के अति निकट मानता है और अपने जीवन की सब कहानियाँ अपने मित्र को सुनाने को तत्पर रहता है। यह बड़ी ऊँची बात है। इस भाव में उस (मित्र) के सामने निर्भय होकर पूर्ण विश्वास के साथ अपने अन्तःकरण के अत्यन्त गुप्त भेद भी रक्खे जा सकते हैं।

९. आत्मनिवेदन—

भक्ति का यह सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। इस पर पहुँच जाने वाला भक्त अपने आपको श्रीमन्नारायण के चरणारविंद में समर्पण कर देता है। यह आत्मसमर्पण इतना सुगम है कि इसमें देश, काल और पात्र का भी नियम नहीं है। यहाँ पर मर्कट-न्याय की समाप्ति है और मार्जार-न्याय इसके आगे प्रारम्भ होता है।

वानर-शिशु अपने बल से अपनी अपनी माता को पकड़े हुए उसके पेट से चिपटा रहता है। उसकी माता जब एक शाखा से दूसरी पर कूदती है तो शिशु भी साथ ही चिपका हुआ चला जाता है; परन्तु इसमें माता को अच्छी तरह पकड़े रहने का पुरुषार्थ शिशु का होता है, माता का नहीं। माता की शक्ति से शिशु की शक्ति न्यून होने से यह सम्भव है कि माता के कूदते समय शिशु का हाथ छूट जाने से वह गिर पड़े। यह मर्कट-न्याय है। आत्मसमर्पण मर्कट-न्याय से ऊँची वस्तु है। इसमें मार्जार-न्याय करता है, क्योंकि मार्जारी (बिल्ली) स्वयं अपने शिशु को मुख में पकड़ती है। शिशु उसको नहीं पकड़ता; अतएव शिशु गिर नहीं सकता।

कहने का आशय यह है कि आत्मनिवेदन से पूर्व 'ऐसा करो ऐसा मत करो' का भार जीव पर है और जीव की सामर्थ्य अल्प होने से उसका गिर जाना भी असम्भव नहीं है, परन्तु आत्मनिवेदन के पीछे यह भार जीव पर नहीं रहता। भगवान् स्वयं सब कुछ करते हैं जिसमें कभी कोई त्रुटि नहीं हो सकती। इस आत्मनिवेदन का नाम ही 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' जिसके स्वरूप का निरूपण आगे किया जायगा।

आत्मनिवेदन भक्ति का अन्तिम अंग है। यहाँ से आगे प्रपत्ति का आरम्भ होता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि आत्मनिवेदन जीवों को करना पड़ता है और जहाँ तक इस जीव को कुछ करना पड़े वहाँ तक भक्ति-क्षेत्र समझना चाहिये। जब भक्त को कुछ न करना पड़े, भगवान् स्वयं उसका सब हित करने लगे वहाँ से प्रपत्ति का प्रारम्भ समझना चाहिये। इस कारण आत्मनिवेदन शब्द को भक्ति के नवें अंग में रक्खा है। इस शब्द से आत्मनिवेदन करने तक की दशा सूचित होती है। इसके पश्चात् की दशा प्रपत्ति अथवा शरणागति कहलाती है। उस कक्षा के महात्माओं को 'प्रपन्न' तथा 'भागवत' कहते हैं।

स्मरण करने की बात है कि पीछे 'भगवत् पर' के दो भेद कहे जा चुके हैं—एक भक्त, दूसरा प्रपन्न। 'भक्त' का प्रकरण समाप्त हुआ, अब प्रपन्न' का प्रकरण प्रारम्भ होगा।

प्रपन्न और प्रपत्ति

प्रपन्न वह है जिसने 'प्रपत्ति' अंगीकार की है अर्थात् सब धर्मों को छोड कर जो अकेले श्रीमन्नारायण की शरण मे चला गया हो। उसी का नाम 'भागवत' है। भागवतो का निवास वैकुण्ठलोक मे होना है। कहा भी है—

वैकुण्ठे तु परे लोके श्री श्रिया सार्द्धं जगत्पतिः।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतैः सह ॥

अर्थात् 'सबसे 'परे वैकुण्ठ लोक मे लक्ष्मीजी सहित जो जगन्नाथ विराजते है, वे ही विष्णु हैं। वे अचिन्त्यात्मा हैं। वे वहां भक्तो और भागवतो सहित विराजते हैं।' इससे स्पष्ट है कि वैकुण्ठ लोक मे भगवान् के समीप भक्त और भागवत दोनो रहते हैं। यह भागवत कक्षा बहुत ऊँची है क्योंकि इसमे पहुँचने के उपरान्त जो कुछ करना है, भगवान् 'मार्जार-न्याय' से स्वय कर देते हैं।

कुछ लोग यह भी पूछ बैठते हैं कि 'प्राणान्तकाल मे भगवत्स्मरण करने पर सद्गति कही जाती है। क्या यह काम 'प्रपन्न' को नही करना पडेगा?' यहां पूछने वालो को यह न भूल जाना चाहिए कि भगवान् मे 'आश्रित-वत्सलत्व' है। आश्रित की रक्षा करने मे विचित्रता भी क्या है? एक महात्मा ने कहा है—

'नावेदयसे यदि ततो भुवनान्यमूनि
नालम्प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्तिः।
एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः
स्वामिन्न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम्।

अर्थात् 'हे स्वामिन्! यदि आप दृक्पात न करें तो ये भुवन होने में ही समर्थ न होगे, और जब वे हो ही नही सकते तो उत्पत्ति के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति ही कैसे होगी? इस प्रकार सब जन्तुओ के सहज सुहृद आप में, हे स्वामिन्! आश्रित वत्सलत्व का होना आश्चर्य की बात नही है।' इसका आशय यह है कि आप निर्हेतुक कृपा से सब जीवों की रक्षा करते हैं, फिर यदि आप अपने आश्रितो की रक्षा करें तो इसमे विचित्रता की क्या बात है? वास्तव मे भगवदाश्रित 'प्रपन्न' को ही कहा जा सकता है और 'आश्रित' के लिए तो भगवान् सब कुछ करते हैं, अतएव सद्गति के लिए प्राणान्त-काल मे भगवत्स्मरण की शर्त 'प्रपन्न' के साथ तो अलग रही, भगवान् ने अपने भक्त के साथ ही नही रखी। उन्होंने स्पष्ट आज्ञा की है—

"ऐसी दशा मे जब कि मन ठहरा हुआ हो, शरीर आरोग्य हो, धातुओ की साम्यावस्था हो, जो मनुष्य मुझ विश्वरूप का स्मरण करता रहता है, अपने उस भक्त का, चाहे वह काष्ठ-पाषाणवत् भी हो, उसके मृत्यु-काल में, मैं स्मरण कर लेता हूं और परम गति को ले जाता

हूं।"* इससे स्पष्ट है कि सद्गति के लिए मृत्यु-काल में स्मरण करने का प्रतिबन्ध जब भक्त के लिए भी नहीं है तो 'प्रपन्न' के लिए कैसे हो सकता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि निश्चिन्त होने के लिए प्रपत्ति से बढकर कोई उपाय ही नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"सर्वधर्मान्-परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

अर्थात् "सब धर्मों का परित्याग करके मुझ अकेले की शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूंगा। चिन्ता मत करो।" इससे स्पष्ट है कि प्रपत्ति अंगीकार करने के उपरान्त जीव को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रपत्ति होनी चाहिये एकमात्र भगवान् की, क्योंकि अनन्यार्हत्व उन्हीं के साथ है। स्वामित्व वास्तव में उन्हीं का है और मोक्ष देने की सामर्थ्य उनके अतिरिक्त किसी में नहीं है।

उपर्युक्त गीता-श्लोक में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद पर आशंका उठ सकती है। अनेक मनुष्य यह कह सकते हैं कि भगवान् ने जीवों को अपनी शरण में आने की आज्ञा दी वह तो ठीक है, किन्तु 'पहले सब धर्मों को छोड़ने की बात कह दी, इसका औचित्य समझ में नहीं आता। उनकी शंका के समाधान के लिए यह कहना उचित ही है कि धर्म चाहे कितनी ही बड़ी वस्तु हो, भगवत्सन्निधि से सदा लघुतर है। उसको भी इसीलिए अंगीकार किया जाता है कि उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति सरल बने; किन्तु शरणागति में पहुँचने पर जीव को धर्म का क्या करना है? छत पर चढ़ने को सीढ़ी चाहिये, किन्तु छत पर पहुँच जाने पर सीढ़ियों की आवश्यकता ही क्या रहती है? बड़ी वस्तु हाथ लगने पर छोटी में मन लगाये रखने से बड़ी वस्तु का अनादर होता है और 'प्रपत्ति' भी ऐसी ही बड़ी चीज है कि उससे बड़ा और कुछ नहीं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन तीनों के आगे 'प्रपत्ति-योग' है। उदाहरण के लिए दशरथ और वसुदेव को देखिये। दशरथ ने धर्म और भगवान में से धर्म का पालन किया। और राम (भगवान्) को वनवास दे दिया। परिणाम यह हुआ कि उनको वैकुण्ठ न मिल सका। इसके विपरीत वसुदेव ने धर्म का परित्याग करके सुयत्नपूर्वक भगवान् को मथुरा से गोकुल पहुँचाया। इससे उनको वैकुण्ठ प्राप्त हुआ। इससे सिद्ध है कि भगवत्प्राप्ति की कोटि से धर्म की कोटि (पद) नीची है। जब मनुष्य गंगा में गोता लगाये तो उस समय वह हड्डी को मुट्ठी में क्यों रखे। गोता लगाने से पूर्व ही उसे दूर फैंक दे। सारांश यह है कि भगवान् के लिए धर्म का परित्याग भी किया जा सकता है।

यहाँ एक और प्रश्न हो सकता है कि 'भगवान् प्रपन्न' का इतना भार अपने ऊपर क्यों ले लेते हैं?' उत्तर स्पष्ट है कि यदि वे इतना भार अपने ऊपर न लें तो जीवों का उद्धार

---

* "स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे, सति यो नरः धातुसाम्ये स्थिते, स्मरन्तं विश्वरूपं च मामजं, ततस्तं म्रियमाणन्तु काष्ठ-पाषाण-सन्निभं, अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्।"

कैसे हो ? इस सारे बेडे के खिवैया तो वे ही अकेले हैं। मनुष्य को ही देखो कि वह जिस वस्तु को अपनी समझ लेता है उसकी संभाल करता है। पशु तक अपने पर निर्भर बच्चे की रक्षा करता है। जन्म के समय गो-वत्स के शरीर पर बहुत-सा मल लिपटा रहता है। वह खड़ा तक नहीं हो सकता, किन्तु गाय वत्स के मल को चाटकर मल रहित कर देती है और वह खड़ा होने लगता है। इसी प्रकार आत्मसमर्पण के अनन्तर जब जीव यह समझ लेता है कि भगवान् धनी है और मैं उनका धन हूँ, धन की रक्षा धनी करता है, स्वयं धन अपनी रक्षा नहीं करता और जब वह कबीर के शब्दों में अपने कर्मादि को भगवान् को समर्पित कर देता है—

मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागत है मेरा॥

तो भगवान् इस जीव को सब पापों से मुक्त करके निज धाम प्रदान कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान् शरण में आये हुए के रक्षक हैं। नीचे लिखे श्लोक में इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है—

"भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम्
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां भवतु शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥"

अर्थात् जो भवसागर में पड़े हुए हैं, द्वन्द्वों के घात से आहत हैं, पुत्र, पुत्री और स्त्री की रक्षा के भार से दबे हुए हैं, भयंकर विषय-जल में डूबे हुए हैं, और नौका रहित हैं, ऐसे लोगों की एकमात्र शरण विष्णु रूपी जहाज है।

शरीर-आत्म-भाव का साक्षात्कार भी इसी प्रपत्ति की दशा में होता है क्योंकि शरीर पर लगी हुई किसी निकृष्ट वस्तु को दूर करने की चिन्ता शरीर नहीं करता, शरीरी जीव करता है। इसी प्रकार जीव को जब (उक्त दशा में) शरीर-शरीरी-सम्बन्ध का साक्षात्कार होता है तो ईश्वर रूपी शरीरी अपने जीव-रूपी शरीर की निकृष्टता दूर करने की चेष्टा करता है। शरीर-शरीरी-भाव के अभाव में अपने आप चेष्टा करते हुए जीव की, ईश्वर-शरीरी के प्रति, शरीरता के भाव की यथार्थता सिद्ध नहीं होती।

जो भगवान् का होकर रहता है, जो उनकी शरण में आ गया है, वह माया के बंधन से छूट जाता है क्योंकि माया भी तो और किसी की नहीं, भगवान् ही की है। अपने शरणागत से भगवान् शीघ्र ही अपनी माया को दूर कर देते हैं। इसी का नाम मोक्ष है। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् अनादिकाल से चली आने वाली, तीनों गुण वाली, यह मेरी माया दुस्तर है। जो लोग एकमात्र मेरी शरण में आते हैं, वे ही इस माया से उत्तीर्ण होते हैं।"

यों तो मोक्ष के अनेक छोटे-छोटे उपाय कहे जा सकते हैं, किन्तु उनसे यह न समझ ना चाहिये कि वे प्रपत्ति की समता के हैं। कई छोटी-छोटी बातों को भी मोक्ष का साधन कहा जा सकत है, किन्तु उनका प्रयोजन इतना ही मानना चाहिये कि वह छोटी बात किसी दूसरी बड़ी बात तक पहुँचा दे और वह बड़ी बात किसी अग्रिम उन्नति को आधारशिला बन जावे। इस प्रकार छोटी बातों को उपाय कहना भी अयुक्त नहीं है, जैसे किसी बड़े साक्षर पंडित के विषय में यह कहना भी अयुक्त नहीं है कि उन्होंने इतना बड़ा पांडित्य वर्णमाला की सहायता से प्राप्त किया है। विचारने की बात तो यह है कि वर्णमाला की शिक्षा तो प्रारम्भ में ही हुआ करती है; किन्तु पश्चात् वर्णमाला के ज्ञान से कुछ ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे और ऊँचा ज्ञान मिलता है। 'पंडित' पद बहुत ऊँचा पद है, वह तो व्यक्ति को पांडित्य से प्राप्त हुआ है। यह कहना अयुक्त नहीं कि वर्णमाला 'पंडित-पद' का साधन रही है, किन्तु वर्णमाला और पांडित्य में कोई समता नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष के अन्य छोटे उपायों को प्रपत्ति के समकक्ष कह देना उचित नहीं है। प्रपत्ति की महिमा अकथनीय है।

प्रपत्ति और अन्य उपाय

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रपत्ति में देश, काल और पात्र का नियम नहीं है। ज्ञान उसकी समता का नहीं है। ज्ञान का प्रयोजन केवल वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध नहीं होता, वरन् जो-जो बातें स्पष्ट बोध के योग्य हैं उनका यथार्थ स्वरूप अन्तःकरण पर इस प्रकार खचित हो जाना चाहिये कि उसको 'दर्शन-समानाकार' कहा जा सके और यह तभी होता है जब ज्ञान की स्फूर्ति निरन्तर एवं अविरल हो—एक क्षण होकर दूसरे क्षण बन्द न हो जावे। इसी को 'ध्यानाकारता' कहते हैं और तभी 'दर्शन-समानाकारता' का पद मिलता है।

प्रपत्ति की सुगमता

प्रपत्ति भक्ति से भी सुगम है। 'परमेश्वर में परानुरक्ति' को ही भक्ति कहते हैं। उसमें उस समय अपना स्वरूप नहीं होता, जबकि वह एक क्षण होकर दूसरे क्षण न रहे। 'परमेश्वर में परानुरक्ति' अनवच्छिन्न तैलधारावत् बनी रहनी चाहिये। प्रपत्ति में यह बात नहीं है क्योंकि प्रपत्ति एक बार होती है और अनन्तकाल तक उसका सौभाग्य जीव को रहता है क्योंकि देहावसान पर जो मोक्ष होता है वह सदा के लिए माया-बन्धन से छूटना है। फिर आवागमन का काम नहीं है। प्रपत्ति की यह सुगमता विभीषण की शरणागति के समय कहे हुए राम के इन वाक्यों से प्रमाणित होती है।

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥—वाल्मीकि रामायण

अर्थात् "मैं आपका हूं, इस प्रकार से एक बार भी याचना करने वाले प्रपन्न को मैं सब भूतों से अभय दे देता हूं। यह मेरा नियम है।" पुरुषोत्तम के इस वाक्य की प्रामाणिकता स्वयं-सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो वस्तु आज आपकी हो चुकी है, वह चाहे कितने ही काल तक आपके अधीन रहे आपकी ही है। उसको प्रतिदिन आपकी वस्तु

नहीं बनना पड़ेगा। वह तो एक दिन आपकी हो चुकी। उदाहरण के लिए एक वस्त्र को लीजिए जिसे आपने कल बाजार से खरीदा है। वह कल से पहले आपका न था, किन्तु कल से आपका हो गया—दूकानदार का स्वत्व उठकर उस पर आपका स्वत्व हो गया। वह वस्त्र जब तक रहेगा, आपका ही है। यह आवश्यक नहीं है कि दूकानदार का स्वत्व उसमें प्रतिदिन उठा करे और वह आपका बना करे। वह तो एक दिन आपका बन चुका सो बन चुका और जब आपने उसको अपना मान लिया तभी से उसकी रक्षा का भार आप पर ही है। ईश्वर का ज्ञान अत्रुटिपूर्ण होने से उसके द्वारा आपकी रक्षा में भी कोई त्रुटि नहीं हो सकती।

यहाँ एक बात और भी समझने की है कि जीव ने सच्चे भाव से यदि यह याचना भगवान् से की है कि 'मैं आपका हूँ' तो वास्तव में उसने भगवान् को दे क्या दिया? इस याचना को करने से पूर्व भी यह जीव भगवान् ही का था। फिर भगवान् को ऐसी क्या नूतन एवं अलभ्य वस्तु मिल जाती है जिससे इतनी याचना करने मात्र से याचक को सब भूतों से अभय दे देते हैं? कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तो भगवान् की दयालुता और आश्रित-वत्सलता है कि वे जीव में रहने वाले नित्य* भगवद्दासत्व के अनुकूल वृत्ति होने मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं। भला भगवान् के लिए क्या अलभ्य और क्या नूतन है?।

शरणागति में ये छः बातें होनी चाहिए:—१. अनुकूलता का संकल्प, २. प्रतिकूलता का वर्जन, ३. 'रक्षा करेंगे' यह विश्वास, ४. गोप्तृत्व-वरण, ५. आत्म निक्षेप, और ६. कार्पण्य (दीनता)**।

शरणागति का स्वरूप

१. अनुकूलता के संकल्प का तात्पर्य है भगवान् के अनुकूल रहने का दृढ व्रत कर लेना, २. प्रतिकूलता के वर्जन में जीव भगवद्विषयक प्रतिकूलता को कभी निकट भी नहीं फटकने देता, ३. 'रक्षा करेंगे', यह विश्वास जीव के लिए बड़ा आवश्यक है; जब तक यह विश्वास नहीं जमता शरणागति-सिद्धि नहीं होती, ४. गोप्तृत्व-वरण का अभिप्राय है भगवान् ही को एकमात्र रक्षक समझ कर केवल उन्हीं से रक्षा चाहना, ५ आत्म निक्षेप द्वारा जीव अपने को भगवच्चरणारविन्दों में पड़ा हुआ समझता है, ६. कार्पण्य—इस भाव को ग्रहण कर जीव अपने को दीन और अकिंचन जानता है।

जब इन भावों की यथार्थता जीव को अपने स्वरूप में दीखने लगे तो समझना कि 'भगवच्छरणागति' का स्वरूप बन गया। आगे यह जीव नीची गति को प्राप्त नहीं। वह मोक्ष का अधिकारी हो गया। इस कक्षा में पहुँचे हुए महात्माओं की यथार्थ रीति करना सामर्थ्य से बाहर की बात है। कहा भी है—

---

*भगद्दासत्व प्रत्येक जीव में रहता है, किन्तु सब की वृत्ति उसके अनुकूल नहीं होती। के पक्ष में वृत्ति उसके अनुकूल हो जाती है।

**आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्व वरणं तथा,
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराधनं परम् ।
तस्मात्परं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥

अर्थात् हे देवि ! सब आराधनों से विष्णु का आराधन श्रेष्ठ है, उससे भी भागवतों का समर्चन श्रेष्ठ है। इस श्लोक में भगवत्सेवा से भी उत्कृष्ट भागवत-सेवा कही गई है । इसी भाव को एक भाषा के कवि ने इस प्रकार किया है—

"केवल मेरे सो नहिं मेरे। मेरे जो भोजन के चेरे ॥

भागवत धर्म की महिमा सबसे अधिक है और श्री रघुनन्दन महाराज के चौथे भाई शत्रुघ्नजी इस भागवत धर्म की मूर्ति थे। जिस प्रकार भागवद् कैंकर्य बहुत बड़ी वस्तु है वैसे ही भागवत अपचार से बढ़कर कोई पातक नहीं है। भगवान् अपने अपचार को तो क्षमा भी कर देते हैं, किन्तु वे भागवत अपचार को क्षमा नहीं करते; किन्तु यह प्रपत्ति जो इतनी सुगम कही गई है, कोई खेल नहीं है। इसका भी स्वरूपानुरूप व्यवहार चाहिये ।

भागवत धर्म की महिमा

प्रपन्न के दो भेद हैं (१) एकान्ति (२) परम एकान्ति। भगवत्-कैंकर्य और भगवद्-गुणानुभव का सौभाग्य इन दोनों को मिला होता है, परन्तु इस सौभाग्य के रहते हुए जो इसमें अपनी उत्कृष्टता मानी जाती है ऐसे भाव को 'एकान्ति' कहते हैं और जो केवल भगवत्-मुखोल्लासमात्र से ही उत्साह का भाव बन जाता है उसे 'परम एकान्ति' कहते हैं। इन दोनों में 'परम एकान्ति' की कक्षा ऊँची है ।

प्रपन्न के भेद

'परम एकान्ति' के दो भेद हैं—(१) दृप्त, और (२) आर्त । इन दोनों में विश्लेषानुसहिष्णुता का थोड़ा-सा अन्तर है। भगवान् का वियोग इन दोनों ही को असह्य होता है। किंतु एक तो कुछ सह भी लेता है, पर दूसरा बिलकुल नहीं सह सकता ।

: ४ :

हिन्दी-कविता में भक्ति की अवतारणा

रामानुज श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। निम्बार्क ने सन् ११५० ई० के लगभग तैलंगना मे 'सनक' सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसमे राधा-कृष्ण की शुद्ध भक्ति पर जोर दिया। इनके मत का उत्तरकालीन कृष्ण-भक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ा। कहने की आवश्यकता नही कि कृष्ण-भक्ति के प्रधान प्रवर्तक यही महात्मा थे। मध्वाचार्य सन् ११९९–१२७८ ई० के आस-पास थे। इन्होने ब्रह्म सम्प्रदाय की नीव डाली। वे लक्ष्मी और विष्णु के भक्त और उपासक थे। हिन्दी के भक्ति-काल की दृष्टि से वल्लभाचार्य का आविर्भाव विशेष महत्व का सिद्ध हुआ। उन्होने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन करके भगवान् के अनुग्रह पर विशेष जोर दिया। इस सम्प्रदाय मे बालकृष्ण की उपासना का विशेष महत्व है। श्री वल्लभाचार्य ने जिस प्रकार भक्ति-सिद्धान्त श्री निम्बार्क स्वामी से लिए उसी प्रकार उन्होंने अपने दार्शनिक विचारो का आधार विशेष रूप से श्री विष्णु स्वामी के मत को ही बनाया।

भक्ति-विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि बौद्ध धर्म के विरोध मे भारत मे दो संघ बड़ी दृढ़ता से खड़े हुए। उनमें से एक तो दार्शनिको का संघ था और दूसरा भक्तो का। शंकराचार्य प्रथम के प्रतिनिधि थे और अन्य उपर्युक्त आचार्य दूसरे के। दक्षिण के इन आचार्यों ने उत्तरी भारत मे भी अपने मतो का प्रचार करते हुए बौद्ध-धर्म को अस्त कर दिया। बिहार और बंगाल मे ही बौद्ध-धर्म की विशेष महत्ता और सत्ता थी इसलिए उक्त महात्माओ और उनके अनुयायियो ने उन्ही प्रान्तो मे प्रथम विशेष प्रचार किया।

बंगाल मे शैव एवं शाक्त मतो का भी अच्छा प्रचार था। शंकराचार्य के द्वारा शैव मत वहाँ और भी दृढ़ हो गया था। इसलिए निम्बार्क आदि वैष्णवो ने राम और कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। उत्तरी प्रदेश मे वैष्णव धर्म का प्रचार पहले से ही था। अतएव उक्त आचार्यों को यहाँ प्रचार-कार्य मे विशेष सफलता मिली। बंगाल और बिहार के पश्चात् उन्होने इसी प्रदेश मे अपने केन्द्र स्थापित किये।

बंगाल मे पहुँच कर वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति शाखा मे कृष्ण के साथ राधिका की भक्ति भी प्रचलित हो गयी। संभवत यह प्रभाव बंगाल की शक्ति-उपासना का था। राधा को इसी कारण कृष्ण की परम प्रिया और देवी का स्थान प्राप्त हो गया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय जीवन और साहित्य के स्वर्ण-युग में संयम और त्याग की प्राचीन धाराएँ, विलासिता और ऐश्वर्य की कोमल चेतनाओ के साथ मिलकर

साहित्य में आती हैं। आगे चल कर उसमें बुद्धिवाद और विरक्ति का जल भी मिल जाता है। भर्तृहरि की 'शतकत्रयी' इसका प्रमाण है। आगे के युगों में वैराग्य की धारा योगियों और संतों के हाथों में चली गयी और कवि तथा भक्त नीति तथा शृंगार की धारा को अपनाने के लिए लालायित हुए। बदली हुई परिस्थिति के आन्दोलनों के युगों में शिव-पार्वती तथा कृष्ण-राधा की शृंगारी कथाएँ कवियों तथा भक्तों के लिए उर्वरा भूमि सिद्ध हुई।

शिव-पार्वती की भक्ति पहली शताब्दी के आस-पास योग-परम्परा के हाथों में आकर तांत्रिक भावनाओं से मिल गयी और पाँचवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते उस भक्ति की काया ही पलट गयी। दूसरी ओर संस्कृत-साहित्य में शृंगारी मुक्तकों परम्परा के साथ ही काम-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र का भी विकास होता रहा और शृंगार को रस-राज बनाने की दिशा में प्रयत्न होते रहे। तांत्रिक भावनाओं और सामान्य जीवन लोक-रुचि में शृंगार की व्यापकता ऐश्वर्य और समृद्धि की गोद में चरम उत्कर्ष को पहुँच गयी और काल-क्रम से भक्ति के पवित्र प्रवाह में कलुषित मानवी भावनाओं का वेगवान् नद आ मिला। ईसवी से बारहवीं शताब्दी तक यह प्रवाह भक्ति के क्षेत्र में विशेष रूप से शिव-पार्वती और कृष्ण-राधा की कथाओं के बीच बहता रहा किन्तु बारहवीं शताब्दी से राधा और कृष्ण की कथाओं को ही उसने प्रधान रूप से अपनाया। संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी के शृंगारी कवियों को ही नहीं अनेक भक्त कवियों को भी दाय के रूप में मिली।

कुछ समय तक तो राधा के बिना ही कृष्ण परब्रह्म के रूप में दिखाई देते हैं। किन्तु आगे चलकर राधा का विकास होता है। वह पहले उनकी रस-रूपा आनन्द शक्ति के रूप में प्रगट होती हैं और कृष्ण के साथ-साथ आराध्य बनती हैं। किन्तु समय-क्रम से राधा को प्रामुख्य मिल जाता है और कृष्ण को केवल उसके सम्बन्ध से स्मरण किया जाता है। मैं समझता हूँ राधा के यह साहित्यिक प्रामुख्य गीत-गोविन्द के बाद ही मिलता है।

राधा का आविर्भाव साहित्य में कब हुआ ? यह प्रश्न अनेक शोधों के बाद भी उत्तर की प्रतीक्षा करता है। इसके सम्बन्ध में प्रमाणों के साथ अटकलबाजियों से भी काम लिया जाता है जहाँ-जहाँ 'राधा' शब्द मिला है शोधकों ने उसको अपने काम के लिए पकड़ने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि राधा जनता के जीवन में संभवत आभीरों के बीच यह बहुत पहले आ चुकी थी। वैदिक ब्राह्मण उपनिषद साहित्य में 'राधस' शब्द आया अवश्य है किन्तु ज्योति, शोभा, भक्ति, श्री आराधना आराधना के अर्थ ही में। भागवत के 'अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः' (भा.१०–३०–२८ में भी इस शब्द से आराधना अर्थ ही किया जाता है।

पद्मपुराण, स्कन्दपुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण (जिसका समय आठवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच माना जाता है।) में वह अलौकिक लौकिक शृंगारी कृष्ण को परकीया प्रेमिका के रूप में दिखाई देती है। राधा का यही रूप पंचतंत्र (दूसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच बने हुए, मित्रलाभ की विष्णु रूपधारी रथकार कथा के उस विवरण में देखा जाता है।

"गत्वा ता प्राक्-राज पुत्रि ! सुप्ता किंवा जागर्षि....सत्यमभिहित भवत्या परं किन्तु । नाम मे आर्या गोपकुल प्रसूना प्रथम आसीत्, सा एवं अत्रावतीर्णा । तेनाह् अत्रायात; इत्युक्ता प्राह . ।"[1]

पचतन्त्र से पूर्व शालिवाहन हाल की गाथा सप्तशती १०८६ मे भी जिसकी पहली शताब्दी की प्राकृत रचना माना गया है, राधा का उल्लेख आता है । पंचतंत्र के बाद राधा साहित्य और पुरातत्त्व दोनो मे विद्यमान हैं । पाँचवी छठी शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्त्ववेत्ताओ ने राधा कृष्ण की प्रेमलीलाओ की मूर्ति बताया है ।(देखिये गगा पुरातत्त्वांक पहाड़पुर की खुदाई-के एन. दीक्षित ।)के. एम, मुंशी ने अपने ग्रंथ 'गुजरात और उसका साहित्य मे पृष्ठ १२६–२७ पर सप्रमाण कहा हैं कि धारा के अमोघवर्ष के शिलालेख मे (सन् ६०८ ई) राधा का उल्लेख कृष्ण-प्रिया के रूप मे हुआ है । उसी प्रकार मालवा के पृथ्वीवल्लभ मुंज के सन् ६७४ ई० तथा ६७६ ई० के ताम्र पत्रो के मंगला चरण में दो श्लोक राधा, विषयक आते हैं (देखिये-प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग सस्करण (१ ।) इसी मुंज के दरबारी कवि धनजय के दश-रूपक के चौथे परिच्छेद मे भी राधा का उल्लेख मिलता है मालवा के राजा भोज । जिसका होना ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध के आसपास माना जाता है ने अपने सरस्वती–कण्ठाभरण मे राधा-विषयक आठ श्लोक प्राचीन ग्रथों से उद्धृत किये हैं ।

इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र, आनन्दवर्धन, नमिसाधु, क्षेमेन्द्र आदि प्रमुख कवियो के ग्रंथो मे आये हुए उल्लेखो से यह प्रमाणित हो जाता है कि साहित्य मे राधा की अवतारणा गीत गोविन्द के बहुत पहले ही हो चुकी थी किन्तु उसको दार्शनिक रूप सबसे पहले निम्बार्क (११०५ ई०) के हाथों मे ही प्राप्त हुआ ।

संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने राधा को परकीया के रूप में प्रस्तुत किया । यद्यपि गीतगोविन्द मे राधा के लिए 'दम्पति' शब्द का प्रयोग इस मान्यता में कुछ बाधा उत्पन्न कर देता है । कहा जाता है कि परकीया के रूप में राधा की मान्यता जयदेव के पूर्व भी हो चुकी थी । जयदेव के अनुयायियो ने भी उन्ही की परम्परा का अनुकरण किया ।

यद्यपि पहली से १२ वी शताब्दी तक अनेक महाकाव्य-नाटक-आख्यान-उपाख्यान आदि लिखे जा चुके थे किन्तु अब वाल्मीकि और व्यास का समय नही था । उनका स्थान अश्वघोष, भास, कालिदास, भवभूति, माघ, सातवाहन, मयूरचौर, भर्तृ हरि, अमरुक, गोवर्धनाचार्य, भामह, वाक्पतिराज, वामन, रुद्रट, अभिनवगुप्त, धनंजय, भोज, क्षेमेन्द्र, विद्याधर, मम्मट, जयदेव आदि ने ले लिया था ।

सस्कृत साहित्य मे जयदेव का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि उन्होने एक नवीन रीति का प्रवर्तन किया । वे उस समय तक प्रचलित किसी रीति के दास न हुए और एक नई दिशा मे उन्होने प्रगति की । यो तो गीतो की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । लोग सामवेद से ही गीत-परम्परा देखते हैं । 'मेघदूत' की सुन्दर गीति-काव्य बतला कर उसी परम्परा को आगे

१ नृसिंह देव शास्त्री पंचतंत्र सस्करण १६३२ पृष्ठ १२१–२२

बढ़ा लेते हैं। सिद्धों और नाथों की बानियों में भी गीतों का प्रयोग हुआ है किन्तु जो शैली जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में अपनायी है वह अपनी कोमलता में ही नहीं कान्तता में भी अपूर्व है। गीत-काव्य की परम्परा शृंगार की नवीन तन्मयता के साथ भारतीय साहित्य को जयदेव की अपूर्व एवं अमोघ देन है। उसे गीत-प्रबन्ध कहें या गीत-नाट्य कहें, जो कुछ भी कहें, यह सरसता में अद्वितीय है।

जयदेव के गीतगोविन्द ने कृष्ण के साथ राधा का मधुर प्रेममय रूप प्रस्तुत करके भक्ति की उपासना के क्षेत्र में एक एक नूतन धार्मिक भावना के उद्‌बोधन को प्रेरणा दी। सूफियों को प्रेम-परम्परा को जिसमें शृंगार के बड़े मधुर एवं रंगीन चित्र उभरते थे, एक चुनौती दी और भक्ति के आन्दोलन में बहुत बड़ा योग दिया।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने उनके समय में ही बड़ी लोक-प्रियता प्राप्त कर ली थी। उस धार्मिक युग में जबकि बंगाल में अभी हिन्दू राजाओं का ही राज्य था, मंदिरों में जयदेव की कविता का पाठ होने लगा था। भक्ति और शृंगार दोनों क्षेत्रों में इस रचना ने अपना मोहन जाल बिछा दिया और उनकी यह उक्ति सफल हो गयी—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीम्
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

राधा और कृष्ण के रूप और संबंध में केवल देश के युवक-युवतियों के प्रेममय जीवन की झलक ही नहीं अपितु नयी परिस्थितियों के अनुरूप धार्मिक भावना का प्रतिरूप भी है।

इस विवेचन के आधार पर यह कहना सरल हो जाता है कि हिंदी के भक्ति-साहित्य के लिए संस्कृत-साहित्य ने भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। वस्तु-कला, दर्शन, भक्ति, शैली, चरित्र आदि सभी क्षेत्रों में संस्कृत-साहित्य ने हिन्दी को अपना योग दिया। राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि का जो चौखटा संस्कृत में था हिन्दी-साहित्य ने बहुधा उसी को स्वीकार किया। उर्मिला, यशोधरा आदि कुछ पात्रों की अथवा विस्तारों की नयी सृष्टि भी हुई है बदलती हुई युग-प्रवृत्तियों में, जिसका अपना मूल्य है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य ने यथासंभव विदेशी प्रभाव को भी स्वीकार किया, किन्तु उसी मात्रा में जिसमें कि भारतीय संस्कृति उसको पचा सकती थी। माधुर्य-भावना के उन्मेष का कारण विदेशी साहित्य और धार्मिक भावना में खोजा जा सकता है।

हिन्दी-भक्ति-साहित्य को हम मध्य और आधुनिक, दो भेदों में रख सकते हैं। जिसको हम भक्ति-कालीन और रीति-कालीन कविता का नाम देते हैं उसी को विवेचन की सुविधा के लिए मध्यकालीन काव्य का नाम दिया जा रहा है और भारतेन्दु से लेकर आज तक की कृतियों को आधुनिक काव्य की संज्ञा प्रदान की गई है। हिन्दी का भक्ति-काव्य विद्यापति से ही प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि विद्यापति की भाषा के सम्बन्ध में भाषा-वेत्ताओं में मतभेद है किन्तु वह

बंगला और हिंदी के बीच के रूप को प्रस्तुत करती है। मैथिली के संबंध से हिन्दी वाले उसे साहित्य में समाहित करते हैं।

विद्यापति ने जयदेव की शैली का बड़ी सफलता से अनुसरण किया है। जो जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण को दिया था वही विद्यापति ने अपनी पद. में दिया। यदि जयदेव के पद इतने सुन्दर है कि वे सुनने वाले की चेतना को जड़ कर देते हैं तो विद्यापति के पदो मे भी काम-वाणो की सी प्रखरता है। शब्दो की माधुरी और भावो की कोमलता मे यह कहना कठिन है कि विद्यापति और जयदेव मे अमुक अधिक प्रवीण है। जयदेव के गीतो की भांति ही उनके पदो को भी भक्त भक्ति-विह्वल होकर गाते हैं। अनेक कवियो ने विद्यापति का अनुसरण किया है। चण्डीदास, गोविन्ददास आदि कवियो ने विद्यापति को आदर्श माना है। बंगाल और मिथिला मे विद्यापति के पद गृह-कीर्तनो में गाये जाते हैं। बंगाल में जहाँ चैतन्य का रस-सम्प्रदाय कृष्ण और राधा के दाम्पत्य शृंगार को प्रधानता देता है, विद्यापति के पदो को बड़ी मान्यता मिली क्योंकि राधा और कृष्ण की शृंगारी लीलाओ के मोहक चित्र उनमे भी हैं। यह बात भक्तो के अनुकूल थी। इसलिए जयदेव चण्डीदास आदि के साथ ही विद्यापति की कविता भी वैष्णव-भक्ति-काल मे सम्मिलित हुई।

भक्ति की दशा

चैतन्य के रस-सम्प्रदाय मे आत्मा और परमात्मा का मधुर संबंध माना गया है। रूप गोस्वामी ने इस विषय की विवेचना 'उज्ज्वलनीलमणि' मे विस्तार से की है। आत्मा और जीवन के सम्बन्ध का रूपक गीतगोविन्द मे भी प्रस्तुत किया गया है, यह बात केवल भक्त ही समझ सकते हैं, किन्तु विद्यापति के पदो में भक्ति का कितना अंश है, यह प्रश्न विवादास्पद है। पदावली की प्रकृति स्वयं जो कुछ है वह तो है ही, किन्तु विवाद का एक प्रमुख कारण विद्यापति का वैष्णव न होना है। वे तो शैव थे जिन पर शाक्त-मत का भी प्रभाव था। हो सकता है कि समय ने उनको शृंगार की ओट में भक्ति-काव्य की प्रेरणा दी हो किन्तु अधिक संभावना इनकी शृंगार भावना के ही पक्ष में है। जो हो पदावलि मे राजा-रानी को प्रसन्न करने वाली प्रवृत्ति-विशेष ही मिलती है, धार्मिक भावना की प्रधानता नहीं है। सभी पद प्रायः शृंगारप्रचुर हैं। ऐसी कविता मे कई विशेषताएँ थी। एक तो धर्म और दर्शन के स्थान पर काव्य में रोचकता लाने के लिए शृंगार की प्रधानता है, दूसरे जन सामान्य की भाषा का प्रयोग है। हो सकता है कि इसमे थोड़ी बहुत कृत्रिमता रही हो और वह शायद साहित्यिक आग्रह से। इसकी तीसरी विशेषता है लोक-रुचि के अनुकूल गीतों की अवतारणा।

विद्यापति ने जो कुछ लिखा है वह परम्परागत मानो से संबंध रखता है। विचारधारा, साहित्यक प्रयोग, अलंकार, व्यंग्य, रस, नायिका-भेद, काव्य-विषय तथा शैलियां संस्कृत तथा अपभ्रंश की धाराओ से प्रभावित है, फिर भी विद्यापति ने लोक-जीवन की साधारण लीलाओ, विश्वासो और रीति-नीतियों की उपेक्षा नही की। अपभ्रंश के मोह का संवरण न करते हुए भी उन्होने बोली को काव्य में स्थान दिया, कदाचित् बोली के प्रति बढ़ती हुई साहित्यिक लोक-

रुचि को देख कर। लोक-रुचि को अपनाने की इसी वृति के कारण विद्यापति के अनेक पद लोक-जीवन में लोक-गीतों के रूप में व्याप्त हो गये हैं। त्यौहारों, उत्सवों और अन्य सांस्कृतिक कृत्यों के समय विद्यापति के गीतों को नर-नारी, मिथिला में ही नहीं, वरन् भोजपुर तथा पूर्वो उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में भी गाते हैं। भोजपुरी तथा मैथिली लोक-गीतों के संग्रह नें विद्यापति के गीत भी पाये जाते हैं। पदावली को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति । शृंगार की प्रत्येक परिस्थिति का पर्यवेक्षण किया था। इस दृष्टि से भी उनके काव्य की ात्मा में स्वाभाविकता एवं नूतनता है।

अवतारणा

हिन्दी भाषा में भक्ति की अवतारणा वास्तव में रामानन्द से होती है। हिन्दी में उनके बहुत थोड़े पद मिले हैं, किन्तु साहित्यक दृष्टि से उनका बड़ा मूल्य है। भक्ति को दक्षिण से उत्तर में लाने का श्रेय रामानन्द जी को ही था। रामानन्द ने भक्ति को सार्वजनिक रूप देकर उसमें स्त्रियों और अछूतों को भी स्थान दिया। रामभक्ति को महत्त्व भी इन्हीं महात्मा की उपासना-पद्धति में मिला। यद्यपि रामानन्द ने भक्ति का निरूपण संस्कृत भाषा में भी किया किन्तु उनके भक्ति-परक उपदेश लोक-भाषा में ही होते थे। भाषा के क्षेत्र में यह एक अपूर्व क्रान्ति थी।

रामानुज के उपास्य में राम और कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु के अन्य अवतारों का भी समावेश हो गया था, किन्तु निम्बार्काचार्य की उपासना में राधा-कृष्ण की मान्यता हो जाने से विष्णु के अन्य अवतार, जिनमें से राम के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ साहित्य तैयार हो चुका था, उपेक्षित से हो गये। रामानन्द ने राम की उपासना का प्रचार करके इस अभाव को दूर किया। १५वीं और १६वीं शती तक अयोध्या और मथुरा–वृन्दावन क्रमशः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के बड़े दृढ़ केन्द्र बन गए थे।

उस समय वैष्णव भक्ति ने राम और कृष्ण के सम्बन्ध से दो शाखाएं प्रतिष्ठित कर ली थीं—राम-भक्ति-शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा। इन दोनों में सगुण रूप ईश्वर की ही मान्यता थी किन्तु वैष्णवों की एक और शाखा भी थी जो निर्गुण शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसके प्रमुख प्रवर्तक कबीर थे। कुछ लोग कबीर को ज्ञानी कह कर उनकी भक्ति-भावना के अतिरेक की उपेक्षा कर देते हैं जिससे उनका सही मूल्यांकन नहीं हो पाता। वस्तुतः कबीर की साधना में भक्ति का प्राधान्य था। वे वैष्णव थे और नारदी भक्ति को मान्यता देते थे। 'दशधा के आगर' कह कर उन्होंने भक्ति को नवधा के रूप में, नहीं वरन् 'दशधा' के रूप में देखा और नारद के 'सा तु परमप्रेमरूपा' सूत्र को अपने शब्दों में प्रतिपादित किया। संत-परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय रामानन्द या नामदेव (११३५ ई०) या और किसी को भले ही हो, किंतु उसको दृढ़ एवं प्रौढ़ बनाने का श्रेय तो निश्चित रूप से कबीर को ही है। इस परम्परा के संतों में प्रसिद्ध कबीर, रैदास, धर्मदास, भगोदास श्रुतिगोपाल, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और लालदास हैं। कहा जाता है कि इनमें से प्रायः लोग पढ़े-लिखे नहीं थे। फिर भी बहुश्रुत होने के नाते इनकी वाणियां में नपे-तुले सिद्धांत हैं। इन सन्तों और इनके शिष्यों ने अनेक पंथों का प्रवर्तन

बंगला और हिंदी के बीच के रूप को प्रस्तुत करती है। मैथिली के संबंध से हिन्दी वाले उसे ... साहित्य में समाहित करते हैं।

विद्यापति ने जयदेव की शैली का बड़ी सफलता से अनुसरण किया है। जो रूप जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण को दिया था वही विद्यापति ने अपनी ... में दिया। यदि जयदेव के पद इतने सुन्दर हैं कि वे सुनने वाले की चेतना को जड़ ... हैं तो विद्यापति के पदों में भी काम-बाणों की सी प्रखरता है। शब्दों की माधुरी और भावों की कोमलता में यह कहना कठिन है कि विद्यापति और जयदेव में अमुक अधिक प्रवीण है। जयदेव के गीतों की भांति ही उनके पदों को भी भक्त भक्ति-विह्वल होकर गाते हैं। अनेक कवियों ने विद्यापति का अनुसरण किया है। चण्डीदास, गोविन्ददास आदि कवियों ने विद्यापति को आदर्श माना है। बंगाल और मिथिला में विद्यापति के पद गृह-कीर्तनों में गाये जाते हैं। बंगाल में जहाँ चैतन्य का रस-सम्प्रदाय कृष्ण और राधा के दाम्पत्य शृंगार को प्रधानता देता है, विद्यापति के पदों को बड़ी मान्यता मिली क्योंकि राधा और कृष्ण की शृंगारी लीलाओं के मोहक चित्र उसमें भी हैं। यह बात भक्तों के अनुकूल थी। इसलिए जयदेव चण्डीदास आदि के साथ ही विद्यापति की कविता भी वैष्णव-भक्ति-काल में सम्मिलित हुई।

भक्ति की दशा

चैतन्य के रस-सम्प्रदाय में आत्मा और परमात्मा का मधुर संबंध माना गया है। रूप गोस्वामी ने इस विषय की विवेचना 'उज्ज्वलनीलमणि' में विस्तार से की है। आत्मा और जीवन के सम्बन्ध का रूपक गीतगोविन्द में भी प्रस्तुत किया गया है, यह बात केवल भक्त ही समझ सकते हैं, किन्तु विद्यापति के पदों में भक्ति का कितना अंश है, यह प्रश्न विवादास्पद है। पदावली की प्रकृति स्वयं जो कुछ है वह तो है ही, किन्तु विवाद का एक प्रमुख कारण विद्यापति का वैष्णव न होना है। वे तो शैव थे जिन पर शाक्त-मत का भी प्रभाव था। हो सकता है कि समय ने उनको शृंगार की ओट में भक्ति-काव्य की प्रेरणा दी हो किन्तु अधिक संभावना इनकी शृंगार भावना के ही पक्ष में है। जो हो पदावलि में राजा-रानी को प्रसन्न करने वाली प्रवृत्ति-विशेष ही मिलती है, धार्मिक भावना की प्रधानता नहीं है। सभी पद प्रायः शृंगारप्रचुर हैं। ऐसी कविता में कई विशेषताएँ थीं। एक तो धर्म और दर्शन के स्थान पर काव्य में रोचकता लाने के लिए शृंगार की प्रधानता है, दूसरे जन सामान्य की भाषा का प्रयोग है। हो सकता है कि इसमें थोड़ी बहुत कृत्रिमता रही हो और वह शायद साहित्यिक आग्रह से। इसकी तीसरी विशेषता है लोक-रुचि के अनुकूल गीतों की अवतारणा।

विद्यापति ने जो कुछ लिखा है वह परम्परागत बातों से संबंध रखता है। विचारधारा, साहित्यक प्रयोग, अलंकार, व्यंग्य, रस, नायिका-भेद, काव्य-विषय तथा शैलियाँ संस्कृत तथा अपभ्रंश की धाराओं से प्रभावित हैं, फिर भी विद्यापति ने लोक-जीवन की साधारण लीलाओं, विश्वासों और रीति-नीतियों की उपेक्षा नहीं की। अपभ्रंश के मोह का संवरण न करते हुए भी उन्होंने बोली को काव्य में स्थान दिया, कदाचित् बोली के प्रति बढ़ती हुई साहित्यिक लोक-

रुचि को देख कर। लोक-रुचि को अपनाने की इसी वृति के कारण विद्यापति के अनेक पद लोक-जीवन में लोक-गीतों के रूप में व्याप्त हो गये हैं। त्यौहारों, उत्सवों और अन्य सांस्कृतिक कृत्यों के समय विद्यापति के गीतों को नर-नारी, मिथिला में ही नहीं, वरन् भोजपुर तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में भी गाते हैं। भोजपुरी तथा मैथिली लोक-गीतों के संग्रह में विद्यापति के गीत भी पाये जाते हैं। पदावली को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति ने शृंगार की प्रत्येक परिस्थिति का पर्यवेक्षण किया था। इस दृष्टि से भी उनके काव्य की आत्मा में स्वाभाविकता एवं नूतनता है।

अवतारणा

हिन्दी भाषा में भक्ति की अवतारणा वास्तव में रामानन्द से होती है। हिन्दी में उनके बहुत थोड़े पद मिले हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका बड़ा मूल्य है। भक्ति को दक्षिण से उत्तर में लाने का श्रेय रामानन्द जी को ही था। रामानन्द ने भक्ति को सार्वजनिक रूप देकर उसमें स्त्रियों और अछूतों को भी स्थान दिया। रामभक्ति को महत्त्व भी इन्हीं महात्मा की उपासना-पद्धति में मिला। यद्यपि रामानन्द ने भक्ति का निरूपण संस्कृत भाषा में भी किया किन्तु उनके भक्ति-परक उपदेश लोक-भाषा में ही होते थे। भाषा के क्षेत्र में यह एक अपूर्व क्रान्ति थी।

रामानुज के उपास्य में राम और कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु के अन्य अवतारों का भी समावेश हो गया था, किन्तु निम्बार्काचार्य की उपासना में राधा-कृष्ण की मान्यता हो जाने से विष्णु के अन्य अवतार, जिनमें से राम के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ साहित्य तैयार हो चुका था, उपेक्षित से हो गये। रामानन्द ने राम की उपासना का प्रचार करके इस अभाव को दूर किया। १५वीं और १६वीं शती तक अयोध्या और मथुरा-वृन्दावन क्रमशः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के बड़े दृढ़ केन्द्र बन गए थे।

उस समय वैष्णव भक्ति ने राम और कृष्ण के सम्बन्ध से दो शाखाएँ प्रतिष्ठित कर ली थीं—राम-भक्ति-शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा। इन दोनों में सगुण रूप ईश्वर की ही मान्यता थी किन्तु वैष्णवों की एक और शाखा भी थी जो निर्गुणशाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसके प्रमुख प्रवर्तक कबीर थे। कुछ लोग कबीर को ज्ञानी कह कर उनकी भक्ति-भावना के अतिरेक की उपेक्षा कर देते हैं जिससे उनका सही मूल्यांकन नहीं हो पाता। वस्तुतः कबीर की साधना में भक्ति का प्राधान्य था। वे वैष्णव थे और नारदी भक्ति को मान्यता देते थे। 'दशधा के आगर' कह कर उन्होंने भक्ति को नवधा के रूप में, नहीं वरन् 'दशधा' के रूप में देखा और नारद के 'सा तु परमप्रेमरूपा' सूत्र को अपने शब्दों में प्रतिपादित किया। संत-परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय रामानन्द या नामदेव (११३५ ई०) या और किसी को भले ही हो, किंतु उसको दृढ़ एवं प्रौढ़ बनाने का श्रेय तो निश्चित रूप से कबीर को ही है। इस परम्परा के संतों में प्रसिद्ध कबीर, रैदास, धर्मदास, भगोदास श्रुतिगोपाल, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और लालदास हैं। कहा जाता है कि इनमें से प्रायः लोग पढ़े-लिखे नहीं थे। फिर भी बहुश्रुत होने के नाते इनकी वाणियों में नपे-तुले सिद्धांत हैं। इन सन्तों और इनके शिष्यों ने अनेक पंथों का प्रवर्तन

किया, जिनमे से कबीर-पंथ, दादू-पंथ, नानक-पंथ, रामसनेही पंथ एवं लालदास-पंथ प्रमुख हैं। निरंजन-सम्प्रदाय अपना संबंध नाथो से भी जोड़ता हुआ राजस्थान में अन्य संत-पंथो से मिल बैठा।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सन्तो मे कबीर का प्रमुख स्थान है। कबीर ने कुछ सुन कर, कुछ अनुभव करके और कुछ दोनो के मेल से जो कुछ कहा, वह तर्कसिद्ध था इसी से कबीर की वाणी में बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य लगता है किन्तु यह बात केवल सामाजिक क्षेत्र मे ही सही उतर सकती है, प्रेम या भक्ति के क्षेत्र मे उनकी वाणी भावनाप्रधान हो गयी है।

इसी से कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कबीर ज्ञानी थे या भक्त, किंतु जिन्होंने कबीर के पूर्ण व्यक्तित्व को उनकी वाणी से खोज निकाला है, वे उन्हे भक्त ही कहेंगे। यदि वे उन्हे संत भी कह देते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नही है। कबीर का 'भक्त' उनके 'ज्ञानी' मे तिरोहित नही हो जाता। कबीर की भक्ति को समझने के लिए उनके दो रूपो को समझना आवश्यक है—एक तो उनका समाजगत रूप और दूसरा व्यक्तिगत। जब वे कोई बात समाज के सन्दर्भ से कहते हैं तो उनकी वाणी मे वस्तुपरकता रहती है, जो बुद्धि-क्षेत्र की चीज है; उसमे भक्ति को खोजना व्यर्थ है क्योकि भक्ति तो व्यक्ति की अपनी भावना है, वह व्यक्ति की अपनी साधना है। उसमें कबीर शत-प्रतिशत भावुक हैं। पूरे भक्त हैं —'राम मेरे दुल्हा मैं राम की बहुरिया'—कबीर की यह उक्ति भावना की कसौटी पर ही पूरी उतरती है, बुद्धि की कसौटी पर नही। यदि कबीर के पूर्ण रूप को नापा जाये तो वे गीता की 'तेषां ज्ञानी मम प्रिय.' उक्ति-निकष पर पूरे उतरते हैं, जो ज्ञानी भक्त का रूप है, ज्ञानी का नहीं। वस्तुतः भक्ति का ज्ञान के साथ कोई विरोध नही है। कबीर की भक्ति को भी उनके ज्ञान के साथ कोई असंगति नहीं है। वस्तु-लोक मे भी जहां वे सामाजिक अखंडता और एकता के स्वर में बोलते हैं, वे अल्लाह, राम, रहीम, केशव, कृष्ण आदि नामों मे अन्तर्हित एकता और प्रेम का आश्रय लेते हैं। अन्य संतों के लिए कबीर वाणी आदर्श रूप मे प्रस्तुत हुई है।

यह ठीक है कि संतो ने जो कुछ कहा है वह सब काव्य नही है किन्तु जितना काव्य है उसमे उसकी अपनी विशेषता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका आविर्भाव लोक-वाणी मे हुआ है जिस में अद्वैत वेदांत का कितना ही प्रभाव हो, कल्पनाओं का आकलन लोक-जीवन से किया गया है। संत लोग साधक थे अतएव उनकी साधना की कोई गंभीरता पाठक के लिए दुर्बोध भले ही बन गयी हो, अन्यथा अभिव्यक्ति बहुत सरल है। दोहा, पद, दोहा-चौपाई इन छन्दो का ही प्रायः प्रयोग इनकी वाणी में हुआ है। सुन्दरदास और अक्षर अनन्य की तो बात छोड़िये, जो पंडित एवं विद्वान थे। फिर भी वे प्रचलित छन्दो की ही मर्यादा मे रहे हैं। सन्तो ने उपमानो के क्षेत्र में प्रायः नवीनता दिखलायी है, इसलिए नहीं कि उनकी प्रदर्शन की रुचि थी वरन् इसलिए कि उनका विशेष ज्ञानभण्डार सामान्य जीवन में सामने आने वाली वस्तुओ और घटनाओ से सजा था। उन्होने प्रकृति का सहयोग लिया है किन्तु उतना ही जितना कि सामान्य जीवन मे उपयुक्त होता है। साहित्यकारों की सी सूक्ष्म दृष्टि उन्होने

प्रकृति के अन्तर में नहीं डाली और न उन्हें उसकी आवश्यकता ही थी। उनकी वाणी की सरलता का एक कारण यह भी है।

प्राय: सभी सन्तों ने एक व्यापक और अद्वैत सत्ता को ही सर्वत्र देखा है—अन्तर और बाहर की प्रत्येक झलक उसी की दिखाई दी है। जब उन्होंने भाव का सहारा लेकर उस अभेद सत्ता से अपना अभेद स्थापित किया है तभी वे रहस्यवादी दिखायी देने लगे हैं। अनुभूति जब भावों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त करने का उपक्रम करती है तब सम्बन्ध-भावना का विलास सहज हो जाता है। संतों का रहस्यवाद भक्तिपरक ही नहीं है उसमें योग का भी बहुत अंश है। सिद्धों और नाथो से चली आनेवाली अभिव्यक्ति-परम्परा का प्रभाव कहीं-कहीं संत-वाणी पर भी दिखायी दे जाता है। संस्कृत साहित्य में दृष्टकूटों का प्रयोग होता था, किन्तु विद्यापति के कूट-पद संतों से बहुत दूर नहीं थे। नाथों ने भी कूटों का पिंड अभी छोड़ा नहीं था। उस परम्परा का अनुवर्तन अथवा सम्पर्क का प्रभाव संतों की वाणी में भी है। कबीर की उलटबाँसियाँ कूट-लोक की विहारिणी हैं। सन्तों पर योग का उतना ही प्रभाव है जितना उनकी साधना में उपयुक्त था। वे एक एवं अद्वितीय तत्त्व की सिद्धि के लिए प्रयत्नवान् थे और प्रेम को इन्होंने प्रधान पथ बनाया था। उस पर चलते हुए इन्होंने योग की पगडंडी का भी सहारा कभी-कभी ले लिया है किन्तु इससे उनका मौलिक मार्ग अदृष्ट नहीं हुआ।

संतों के पास आकर्षण की दो बड़ी चीजें थीं, एक तो साम्य-भावना और उसका प्रचार और दूसरी सिद्धियों की झलक। उनमें से पहली का ही स्थान प्रमुख था। उसी में उनकी अद्वैत-भक्ति संनिहित थी। दूसरी चीज को उन्होंने सिद्धों और नाथों की करामात की तरह तो प्रयुक्त नहीं किया था, फिर भी उसकी झाँकी दिखलाने के लोभ का वे संवरण नहीं कर सके। इससे सामान्य लोग उनके अनुयायी बन गये, किन्तु उनके लिए संतवाणी चाहे वह सिद्धांत रूप में कितनी ही प्रभावती रही हो, व्यवहार-पक्ष में आशा और तोष देने वाली सिद्ध नहीं हुई। संतों की भक्ति 'सारोपा' ही रही, उसको सगुणोपासना का सा व्यवहार-पक्ष नहीं मिला था। आरोपों की आवश्यकता ने, चाहे उसमें सूफियों के प्रेम-मार्ग का कितना ही अंश रहा हो, सगुणोपासना को परोक्षत: प्रेरणा दी।

संत-साधना में विरक्ति को बड़ा महत्त्व दिया गया है। किसी भी साधना में विरक्ति का कुछ न कुछ अंश तो आवश्यक हो जाता है अन्यथा मानसिक संकलन दुरूह हो जाता है। सगुण भक्तों ने भी विरक्ति या वैराग्य को भक्ति के साधनों में सम्मिलित किया है किन्तु उस सीमा तक कि वह संसार-मोह छुड़ाकर भक्त को ईश्वर में लगाती है। संतों की साधना में वह इतनी प्रखर बन गई है कि उसकी ग्राह्यता झलकने लगी है। व्यवहार-लोक की रँगीली अप्सरा, आशा विरक्ति की इस सीमा पर ठहरने के बजाय किनारा करने लगती है। संतों के वैराग्यपरक पद अब तक लोक का कंठहार बने हुए हैं और वे बूढ़े-टेढ़े, दीन-दुखी को अनायास ही मोहित भी कर लेते हैं और उनमें लोक-पीड़ा के अपहरण की शक्ति भी है, किंतु उतनी ही: जितनी कि सुनाने वाले के दुख में सुनने वाले के दुख के निवारण की क्षमता होती है।

हिन्दी का सन्त-साहित्य वाणियो के नाम से प्रकाशित हो चुका है। कबीरवाणी, दादूवाणी, रैदासवाणी, मलूकवाणी, चरणदास की वाणी, नानकवाणी (जो ग्रंथ साहब मे संकलित है), लालदास की वाणी आदि के रूप मे उनकी कृतियाँ मिलती हैं जिनके सबंध में देशी-विदेशी अनेक विद्वानो ने शोध-प्रबन्ध लिखे हैं, जो उनके मूल्य को सामने लाने में बड़े सहायक हुए हैं। यो तो सतो का प्रभाव देश भर मे दिखाई दे रहा है और देता रहा है किन्तु राजस्थान ने संत भक्तो के साथ जितनी सहानुभूति दिखलाई है उतनी शायद ही किसी प्रदेश ने दिखलाई होगी और इसका प्रमाण है अनेक संतों का यहाँ अब तक जीवित रहना।

हिन्दी-कविता मे ही नही सन्त-वाणी अन्य भाषाओं की कविता मे भी सुरक्षित है। गुजरात और महाराष्ट्र मे सन्त-वाणी का अमोघ मूल्य है। वहाँ के साहित्य में सन्तो का प्रमुख स्थान है। इसी प्रकार पंजाब आदि अन्य प्रान्तों मे भी सन्तो की वाणी समादृत एवं सुरक्षित है। इस युग मे—जनता के युग मे सन्तवाणी के मूल्य की अवहेलना नही की जा सकती। इस धर्मनिरपेक्ष शासन मे जनता का धर्म या सबका एक ही धर्म अधिक मंगलकर सिद्ध हो सकता है। चाहे उसमे मूर्ति-पूजा या अवतारवाद के लिए कोई सहानुभूति न हो। यदि कबीर आज होते तो महात्मा गाधी के व्यक्तित्व मे अपनी प्रतिच्छाया देखकर शायद गद्‌गद् हो उठते और अपने पंथ के अभिनव गठन को देखकर सिहर उठते। वियोगी हरि आदि की वाणी मे आज भी सन्त वाणी का मौलिक रूप तो दीख ही जाता है, भले ही उसकी अभिव्यक्ति बदल गयी हो, उसमे अधिक साहित्यिकता आ गयी हो। धारा भले ही मन्द पड़ गयी हो, किन्तु सन्त-काव्य का प्रवाह आज भी रुका नही है। सन्तो मे हिन्दू-मुसलमान दोनो जातियो के लोग सम्मिलित रहे हैं। कल्याण के सताक मे सन्त-परम्परा का अविरल प्रवाह देखा जा सकता है।

निर्गुण और निराकार के उपासको मे प्रेम-मार्गी सूफियो का प्रमुख स्थान है किन्तु भारतीय भक्ति-परम्परा से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नही है। यदि है तो इतना ही कि सूफियो का प्रेम अद्वैतमूलक है अथवा इन्होने अलौकिक प्रेम को भारतीय कथाओ के माध्यम मे निरूपित करने का प्रयत्न किया है और उनकी वाणी भी भारतीय है। इस परम्परा में जो प्रेम की तीव्र मधुरता मिलती है उसको न केवल कबीर आदि कवियो ने ही स्वीकार किया है अपितु कृष्णाश्रयी शाखा के कवियो ने भी स्वीकार किया है। यदि इसे सहज स्वीकृति न भी कहिये तो भी 'संग' और वातावरण का प्रभाव तो स्पष्ट ही है।

कुछ आलोचको का ख्याल है कि कृष्णाश्रयी शाखा के कवियो पर प्रेम की मधुर तीव्रता ने अपनी जो छाप लगाई है वह सीधी सूफियो से नही आई है वरन् चैतन्य महाप्रभु के गौड़ी वैष्णवीय मार्ग के सम्बन्ध मे आयी है। इसमें सन्देह नहीं कि वल्लभाचार्य ने चैतन्य का प्रभाव स्वीकार किया है और बालकृष्ण की पुष्टिमार्गीय उपासना मे राधा की मान्यता एव उपासना का योग चैतन्य के सम्बन्ध से ही हुआ है, भले ही इस उपासना का स्रोत निम्बार्क का मत ही रहा हो। जो हो भारतीय भक्ति-मार्ग ने, जिसने प्रमुखतया

रामानुजाचार्य के समय से ही आन्दोलन का रूप ग्रहण किया, उस विदेशी प्रेम-मार्ग के प्रति जो सैकड़ों वर्ष पहले भारत की भूमि में बसना चाहता था, सहानुभूति प्रकट की, किन्तु केवल प्रेमासक्ति के क्षेत्र में जिसको नारदीय भक्ति में तेरह आसक्तियों में से एक माना है।

यहाँ कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय भक्ति और सूफी-प्रेम में अन्तर इतना ही है कि भारतीय भक्त का आलम्बन प्रतिष्ठित है किंतु सूफी का आलम्बन निर्गुण होने से कल्पना-सिद्ध है। भारतीय भक्त लीला के माध्यम से रस लेता है और सूफी आरोप के द्वारा। पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा सूफियों के प्रेम से प्रभावित तो हुई किंतु विकारमुक्त न रह सकी। उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति को जाग्रत किया, किंतु निर्गुण पंथ कामवासना ग्रस्त न हुआ। वह अविकृत रहा यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है।

सूफियों ने जिस साहित्य की सर्जना की उसका साहित्यिक मूल्य 'सन्त-वाणी' से कहीं अधिक है। इन कवियों ने ऐतिहासिक, लोक-प्रचलित या कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग के महत्त्व को प्रकट किया है। इनमें भारतीय भक्त की दृष्टि से कोई सार भले ही न हो, वह पद्धति और साधना चाहे न मिले, किन्तु काव्य-तत्त्व अवश्य है। प्रेम की पीड़ा की व्यंजना इतनी व्यापक और मार्मिक हुई है कि लोक-कथाओं में भरा हुआ प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है। इन कहानियों को सूफियों ने पशु-पक्षियों या पेड़-पौधों से भी सम्बन्धित करके विश्व को एक प्रेम-सूत्र में आबद्ध कर दिया है। मनुष्य के घोर दुख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं और पक्षी भी संदेश पहुँचाते हैं।

निर्गुण-भक्तों के समान सूफियों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि वे समाज और समय के आलोचक नहीं थे। वे तो प्रेम के प्रचारक थे अतएव उनकी कृतियों में मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है, जिससे इनका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान पर समान रूप से पड़ता है। सूफियों की भाषा भी निर्गुणियों की भाषा से भिन्न है। निर्गुण-सन्तों ने किसी एक बोली में अनेक बोलियों का पुट देकर उसे सबकी भाषा बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु सूफियों ने केवल अवधी को ही मान्यता दी। इसके अतिरिक्त कबीर आदि की मुक्तक रचनाओं 'में जिस रहस्यवाद का आभास मिलता है, उसका आधार वे पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं जो वेदान्त और हठयोग में निर्दिष्ट हैं। किन्तु सूफियों ने अपने प्रेम-प्रबन्धों के बीच-बीच में जिस रहस्यवाद का आभास दिया है वह स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। उनके वे संकेत जो रहस्यमय परोक्ष की ओर हैं बड़े मधुर एवं हृदयग्राही हैं। सूफियों ने अपने भावात्मक रहस्यवाद में योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकों के साधनात्मक रहस्यवाद का भी पुट देकर उसे उन लोगों के लिए मोहक बना दिया, यद्यपि उनकी अपनी ही साधना पद्धति थी।

यों तो भारत में अनेक सूफियों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपने ढंग से कुछ-न-कुछ लिखा भी, किन्तु उन सबका साहित्यिक महत्त्व नहीं है। उनमें से प्रसिद्ध यही हैं—कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह और नूरमुहम्मद। इन्होंने क्रमशः ये ग्रंथ लिखे-मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंसजवाहिर और इन्द्रावती। जायसी ने

हिन्दी का संत-साहित्य वाणियों के नाम से प्रकाशित हो चुका है। कबीरवाणी, दादूवाणी, रैदासवाणी, मलूकवाणी, चरणदास की वाणी, नानकवाणी (जो ग्रंथ साहब में संकलित है), लालदास की वाणी आदि के रूप में उनकी कृतियाँ मिलती हैं जिनके सबंध में देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने शोध-प्रबन्ध लिखे हैं, जो उनके मूल्य को सामने लाने में बड़े सहायक हुए हैं। यों तो संतों का प्रभाव देश भर में दिखाई दे रहा है और देता रहा है किन्तु राजस्थान ने संत भक्तों के साथ जितनी सहानुभूति दिखलाई है उतनी शायद ही किसी प्रदेश ने दिखलाई होगी और इसका प्रमाण है अनेक संतों का यहाँ अब तक जीवित रहना।

हिन्दी-कविता में ही नहीं सन्त-वाणी अन्य भाषाओं की कविता में भी सुरक्षित है। गुजरात और महाराष्ट्र में सन्त-वाणी का अमोघ मूल्य है। वहाँ के साहित्य में सन्तों का प्रमुख स्थान है। इसी प्रकार पंजाब आदि अन्य प्रान्तों में भी सन्तों की वाणी समादृत एवं सुरक्षित है। इस युग में—जनता के युग में सन्तवाणी के मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस धर्मनिरपेक्ष शासन में जनता का धर्म या सबका एक ही धर्म अधिक मंगलकर सिद्ध हो सकता है। चाहे उसमें मूर्ति-पूजा या अवतारवाद के लिए कोई सहानुभूति न हो। यदि कबीर आज होते तो महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में अपनी प्रतिच्छाया देखकर शायद गद्गद् हो उठते और अपने पंथ के अभिनव गठन को देखकर सिहर उठते। वियोगी हरि आदि की वाणी में आज भी संत वाणी का मौलिक रूप तो दीख ही जाता है, भले ही उसकी अभिव्यक्ति बदल गयी हो, उसमें अधिक साहित्यिकता आ गयी हो। धारा भले ही मन्द पड़ गयी हो, किन्तु सन्त-काव्य का प्रवाह आज भी रुका नहीं है। सन्तों में हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों के लोग सम्मिलित रहे हैं। कल्याण के संतांक में संत-परम्परा का अविरल प्रवाह देखा जा सकता है।

निर्गुण और निराकार के उपासकों में प्रेम-मार्गी सूफियों का प्रमुख स्थान है किन्तु भारतीय भक्ति-परम्परा में उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि है तो इतना ही कि सूफियों का प्रेम अद्वैतमूलक है अथवा इन्होंने अलौकिक प्रेम को भारतीय कथाओं के माध्यम से निरूपित करने का प्रयत्न किया है और उनकी वाणी भी भारतीय है। इस परम्परा में जो प्रेम की तीव्र मधुरता मिलती है उसको न केवल कबीर आदि कवियों ने ही स्वीकार किया है अपितु कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों ने भी स्वीकार किया है। यदि इसे सहज स्वीकृति न भी कहिये तो भी 'संग' और वातावरण का प्रभाव तो स्पष्ट ही है।

कुछ आलोचकों का ख्याल है कि कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों पर प्रेम की मधुर तीव्रता ने अपनी जो छाप लगाई है वह सीधी सूफियों से नहीं आई है वरन् चैतन्य महाप्रभु के गौडी वैष्णवीय मार्ग के सम्बन्ध से आयी है। इसमें सन्देह नहीं कि वल्लभाचार्य ने चैतन्य का प्रभाव स्वीकार किया है और बालकृष्ण की पुष्टिमार्गीय उपासना में राधा की मान्यता एवं उपासना का योग चैतन्य के सम्बन्ध से ही हुआ है, भले ही इस उपासना का स्रोत निम्बार्क का मत ही रहा हो। जो हो भारतीय भक्ति-मार्ग ने, जिसने प्रमुखतया

रामानुजाचार्य के समय से ही आन्दोलन का रूप ग्रहण किया, उस विदेशी प्रेम-मार्ग के प्रति जो सैकड़ों वर्ष पहले भारत की भूमि में बसना चाहता था, सहानुभूति प्रकट की, किन्तु केवल प्रेमासक्ति के क्षेत्र में जिसको नारदीय भक्ति में तेरह आसक्तियों में से एक माना है।

यहाँ कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय भक्ति और सूफी-प्रेम में अन्तर इतना ही है कि भारतीय भक्त का आलम्बन प्रतिष्ठित है किंतु सूफी का आलम्बन निर्गुण होने से कल्पना-सिद्ध है। भारतीय भक्त लीला के माध्यम से रस लेता है और सूफी आरोप के द्वारा। पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा सूफियों के प्रेम से प्रभावित तो हुई किंतु विकारमुक्त न रह सकी। उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति को जाग्रत किया, किंतु निर्गुण पंथ कामवासना ग्रस्त न हुआ। वह अविकृत रहा यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है।

सूफियों ने जिस साहित्य की सर्जना की उसका साहित्यिक मूल्य 'सन्त-वाणी' से कहीं अधिक है। इन कवियों ने ऐतिहासिक, लोक-प्रचलित या कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग के महत्व को प्रकट किया है। इनमें भारतीय भक्त की दृष्टि से कोई सार भले ही न हो, वह पद्धति और साधना चाहे न मिले, किन्तु काव्य-तत्त्व अवश्य है। प्रेम की पीड़ा की व्यंजना इतनी व्यापक और मार्मिक हुई है कि लोक-कथाओं में भरा हुआ प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है। इन कहानियों को सूफियों ने पशु-पक्षियों या पेड़-पौधों से भी सम्बन्धित करके विश्व को एक प्रेम-सूत्र में आबद्ध कर दिया है। मनुष्य के घोर दुख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं और पक्षी भी संदेश पहुँचाते हैं।

निर्गुण-भक्तों के समान सूफियों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि वे समाज और समय के आलोचक नहीं थे। वे तो प्रेम के प्रचारक थे अतएव उनकी कृतियों में मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है, जिससे इनका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान पर समान रूप से पड़ता है। सूफियों की भाषा भी निर्गुणियों की भाषा से भिन्न है। निर्गुण-सन्तों ने किसी एक बोली में अनेक बोलियों का पुट देकर उसे सबकी भाषा बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु सूफियों ने केवल अवधी को ही मान्यता दी। इसके अतिरिक्त कबीर आदि की मुक्तक रचनाओं में जिस रहस्यवाद का आभास मिलता है, उसका आधार वे पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं जो वेदान्त और हठयोग में निर्दिष्ट हैं। किन्तु सूफियों ने अपने प्रेम-प्रबन्धों के बीच-बीच में जिस रहस्यवाद का आभास दिया है वह स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। उनके वे संकेत जो रहस्यमय परोक्ष की ओर हैं बड़े मधुर एवं हृदयग्राही हैं। सूफियों ने अपने भावात्मक रहस्यवाद में योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकों के साधनात्मक रहस्यवाद का भी पुट देकर उसे उन लोगों के लिए मोहक बना दिया, यद्यपि उनकी अपनी ही साधना पद्धति थी।

यों तो भारत में अनेक सूफियों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपने ढंग से कुछ-न-कुछ लिखा भी, किन्तु उन सबका साहित्यिक महत्व नहीं है। उनमें से प्रसिद्ध यही हैं—कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह और नूरमुहम्मद। इन्होंने क्रमशः ये ग्रंथ लिखे-मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंसजवाहिर और इन्द्रावती। जायसी ने

'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक रचनाएँ भी लिखी, किन्तु उनमें पद्मावत की सी साहित्यिकता नहीं है। न तो वे प्रबन्ध रचनाएँ हैं और न उनमें वह सरसता ही है। उनमें सैद्धांतिक निरूपण ही प्रधान है। इन सब कवियों मे जायसी का साहित्यिक मान बहुत ऊँचा है, किन्तु नूरमुहम्मद भी एक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण दीख पड़ता है और वह है भाषा के प्रति सूफियों की भावना। इसीलिए नूरमुहम्मद की इन्द्रावती से भी अधिक महत्वपूर्ण है उसकी 'अनुराग-बांसुरी' जिसकी भाषा अन्य कई सूफी रचनाओं से अधिक मार्जित है। इसी से भाषा के प्रति सूफियों की वृत्ति का अनुमान कर सकते हैं। 'अनुराग-बासुरी' के प्रारम्भ मे दी हुई नूर मुहम्मद की ये पंक्तियाँ आलोचक को पर्याप्त नूर (प्रकाश) देती हैं—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा।
मन इस्लाम मिसिकलैं माजेउँ। दीन जेवरी करकस भाँजेउँ।
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावन हारा।
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवै।

इन पंक्तियों मे तीन बातें प्रगट होती हैं—(१) दीन (धर्म) के प्रति इन कवियों का आग्रह, (२) नूर मुहम्मद के समय (१७५० ई० के लगभग) हिन्दी-उर्दू का प्रश्न। (३) उस समय तक साहित्य में उर्दू का कोई स्थान न होना। तीसरी बात का आभास स्पष्टत नूर मुहम्मद की इन पंक्तियों से मिलता है—

कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिन्दी भासा पर आवा।
छाँड़ि फारसी कन्द न बातैं। अरुभाना हिन्दी रस-बातैं।

आलोचकों का यह कहना कि सूफी लोगों ने सन्तों (निर्गुण सन्तों) की भाँति देश को एकता के सूत्र मे बाँधने के प्रयत्न किये, इसे मैं स्वीकार करता हूँ किन्तु सन्तों और सूफियों के प्रयत्नों मे आकाश-पाताल का अन्तर रहा। सन्तों ने धार्मिक सारग्राहिता के आधार पर एकत्व को प्रेरित किया। इन्होंने राजा-रानियों की कथाओं को लेकर उनमें अपने सिद्धांतों के प्राण पिरोकर उनका जो कलेवर तैयार किया और साथ ही योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकों की साधना के मूल्यांशों का पुट देकर जो चीज तैयार की उसमें कवियों की आकर्षण की भावना अवश्य निहित थी।

राजा-रानियों की कहानियाँ ही भारतीयों को अधिक आकर्षण दे सकती थीं तथा जहाँ पर अपने धर्म के प्रचार में सरलता हो सकती थी वह था पूर्वी भारत, जहाँ भारतीय धर्म या सांस्कृतिक दृष्टिकोण शिथिल ही नहीं खंडित हो रहा था। तान्त्रिकों, रसायनियों और योगियों के अतिरिक्त शाक्तों की डेढ़ चावल की अपनी-अपनी खिचड़ी पक रही थी। लोग भ्रान्त थे और जनता मे आस्था और विश्वास की दुर्बलता थी। यद्यपि इस दुर्बलता का अभाव तो उत्तर या दक्षिण मे भी नहीं था, फिर भी उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण अधिक विच्छृंखल नहीं था क्योंकि बौद्ध धर्म की विकृतियों ने पूर्वी भारत को जितना आक्रांत कर रखा था उतना भारत के अन्य भागों को नहीं किया था। इस कारण सूफियों को अपने धर्म के प्रचार का सर्वाधिक अवसर

और सौकर्य इसी भाग में था। यही कारण प्रतीत होता है कि सूफियों ने प्रायः अवधी को जो इस भू-भाग में भली भाँति समझी और बोली जाती थी, अपनाया।

इस प्रकार जहाँ सन्तों में हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के लोग हो गये हैं, वहाँ सूफियों में अधिकांशतः मुसलमान ही हुए हैं। कदाचित् दो-एक ही हिन्दू नाम सूफियों में सुनायी पड़ते हैं। उनमें से कहा जाता है कि एक तो कोई पंजाब के सूरदास थे जिन्होंने प्रेम-प्रबन्ध लिखने का प्रयत्न किया किन्तु वे साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं वरन् सूफियों की प्रचारात्मक दृष्टि से भी असफल सिद्ध हुए। अश्लीलता ने उनके काव्य और धार्मिक दृष्टिकोण को दबोच डाला। अतएव सूफियों के प्रयत्न एक ही दिशा में हुए, विशेष स्थिति के काम को प्राप्त करने के लिए हुए, और विशेष लक्ष्य के निमित्त हुए।

वस्तुतः सन्त लोग लोक-संग्रह चाहते थे और सूफी लोग मत-प्रचार। यद्यपि दोनों ने लोक-भाषाओं को अपनाया, किन्तु सूफियों की भाषा क्षेत्रीय परिमिति में आबद्ध रही और सन्तों की भाषा अनेक शब्दों और रूपों के मेल से अन्तःप्रान्तीय भाषा के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील रही। सन्तो और सूफियों में कुछ आदान-प्रदान भी रहा। जिस प्रकार सन्तों ने सूफियों के प्रेम की तीव्रता को अपनाया, उसी प्रकार सूफियों ने सन्तों के अहिंसा तत्त्व को भी अपनाया।

सन्त-सम्प्रदाय में भक्ति की जो धारा प्रवाहित हुई उसने राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं देखा। भक्ति की यह धारा सारे देश में बहती रही, किन्तु इसी धारा के समानान्तर एक सगुण भक्ति-धारा भी प्रवाहित हुई जिसका निकटतम स्रोत रामानुजाचार्य में दृष्टिगोचर होता है। भक्ति की इस धारा को देश में अनेक आचार्यों ने फैलाया। उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, किन्तु इस धारा को उत्तर में लाने का श्रेय महात्मा रामानन्द और वल्लभाचार्य को है। इन दो आचार्यों के सम्पर्क से वैष्णव भक्ति-धारा दो शाखाओं में विभक्त हो गई—एक रामभक्ति-शाखा के रूप में बही और दूसरी कृष्ण-भक्ति-शाखा के रूप में।

राम-भक्ति को हिन्दी-भाषा की भूमिका पर उतारने का प्रमुख श्रेय महात्मा तुलसीदास को है। भाषा-साहित्य की अनेक शैलियों में उनकी भक्ति-भावना अवतीर्ण हुई। वैसे तो तुलसी की सभी रचनाएँ अपनी-अपनी विशेषता रखती हैं, किन्तु रामचरितमानस तथा विनयपत्रिका का अधिक महत्त्व है। तुलसीदास की सगुण भक्ति मर्यादावाद की मुद्रा से मुद्रित है, मानों उन्होंने अनियन्त्रित मनोवेगों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। समाज के मानस के प्रशिक्षण के लिए रामचरितमानस मानों एक शास्त्र है। इनकी अन्य रचनाओं में भी भक्ति-चित्रण ने अश्लीलता की सीमा का स्पर्श कभी नहीं किया। इसका कारण यह है कि इनका चारित्रिक आदर्श राम में निहित है। उस आदर्श-चरित्र के चारों ओर जो वातावरण होना चाहिये अन्य चरित्रों में उसी में योग देने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। इसी के साथ-साथ प्रतीपाचरण के परिशोध का प्रयत्न भी स्पष्ट है।

जो हो, तुलसीदास का भक्ति-आदर्श आर्य-मर्यादाओं का प्रतीक है। इस आदर्श को तुलसीदास ने न तो भाव की, और न चरित्र ही की, किसी भूमि पर स्खलित होने दिया है। उनकी भक्ति ने कला को जो सहयोग दिया है वह साहित्य की एक विलक्षण उपलब्धि है।

तुलसीदास ने भक्ति की महिमा और साहित्य की गरिमा, दोनो की एक ही साथ रक्षा की है। यद्यपि तुलसीदास सगुणोपासक है किंतु वे निर्गुण ब्रह्म को भी भुला नही देते हैं। जबकि निर्गुणोपासकों ने केवल नाम को ही महत्त्व दिया है तुलसीदास नाम और रूप दोनो को महत्त्व देते हैं। वे उनको ईश्वर की उपाधि मानते हैं। इनमे से किसको बड़ा और छोटा कहा जाये, यह निर्णय दुष्कर ही नही असंभव है,—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी।
× × × ×
को बड़ छोट कहत अपराधू॥

फिर भी वे नाम के संबध मे इतना कह कर उसका उत्कर्ष व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं—

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप-ज्ञान नहि नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनुजाने। करतल-गत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥

तुलसीदास का महत्त्व न केवल उनके भक्त और साहित्यकार होने के कारण है, वरन भारतीय संस्कृति के व्याख्याता होने के कारण है। तुलसीदास के प्रमुख पात्र भारतीयता के— आर्य-संस्कृति के मनोहर दीपक हैं। यदि विनयपत्रिका प्रमुखतः भक्ति और साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तो रामचरितमानस संस्कृति के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। भक्ति और संस्कृति के पुट के साथ तुलसीदास की शिल्पकारिता ने इस ग्रन्थ को हिंदी साहित्य में जो गौरव प्रदान किया उसे विश्व जानता है। इस ग्रन्थ की रचना करके तुलसीदास ने राम-काव्य के विकास के आगे 'इत्यलम्' की मानो मुद्रा लगा दी।

हिन्दी-जगत् को कृष्ण-भक्ति की प्रमुख प्रेरणा श्री वल्लभाचार्यजी की वाणी से मिली। यद्यपि वल्लभाचार्य की कीर्ति उनके आचार्यत्व पर ही आधारित है, किन्तु कृष्ण-भक्तों को भाषा में भक्ति-काव्य के प्रणयन की प्रेरणा का श्रेय प्रमुखतः उन्ही को मिला है। अष्टछाप के कवियों को दिशा दिखलाने का काम तो उन्होंने किया ही, साथ ही ब्रजभाषा के भक्ति-काव्य को उद्बुद्ध करने मे भी उनके सम्प्रदाय का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। यो तो कृष्ण-काव्य के विकास में वल्लभ के अतिरिक्त अन्य आचार्यों को भी श्रेय प्राप्त होना चाहिये, किन्तु प्रमुख श्रेय वल्लभाचार्य को ही मिलना चाहिये। वास्तव मे हिन्दी-कृष्ण-भक्ति शाखा ने इन्हीं के सम्प्रदाय से बहुत कुछ लिया। वल्लभ के साथ चैतन्य महाप्रभु की भक्ति-भावना भी हिन्दी-काव्य लोक में अपने मधुर पद-चिह्न छोड़ गई है। माधुर्य भावना के विकास मे चाहे श्रेय के भागी निम्बार्कादि भी हो जायें, किन्तु हिन्दी-कविता की मधुरा-भक्ति-शाखा पर चैतन्य के प्रभाव की प्रमुखता ही दृष्टिगोचर होती है।

कहने की आवश्यकता नही कि कृष्णाश्रयी भक्ति-शाखा का विकास हृदय के जीवन की दिशा में बडे वेग और विस्तार से होता चला गया, किन्तु जीवन के नैतिक पक्ष पर उससे जो आघात हुआ उसे भारतीय संस्कृति का इतिहास भुला नही सकता। भागवत पुराण ने भक्ति

का जो धरातल तैयार किया था उसमें कुछ लोकतत्त्वों का समावेश हो गया था। इन तत्त्वों का समावेश आभीर-संस्कृति के सम्पर्क से हुआ था। आभीरों के उत्कर्ष के साथ साथ इन तत्त्वों का विकास भी होता चला गया और बाद में ये तत्त्व भक्ति के प्रधान अंग बन बैठे। भक्ति का द्वार सबके लिए खुला था। जैसे-जैसे भक्ति लोक-धारा की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर प्रवाहित होती गई उसमें लोक-भावना की ऊबड़-खाबड़ तरंगें मिलती चली गईं। भाव-भूमि पर जिस कौरूप्य का नृत्य हुआ उसके चित्र देशवासियों की दशा में दृष्टिगोचर हो सकते हैं।

कृष्ण-भक्ति भावभूमि के जिन-जिन स्तरों पर प्रवाहित हुई उनमें मुक्तक-काव्य के लिए पर्याप्त अवकाश था, किन्तु उस भूमि पर बड़े बड़े प्रबन्धों की नीव के लिए गुंजाइश नहीं थी। प्रबन्ध-काव्य का जो स्वरूप साहित्य-शास्त्र ने अपना रखा था उस पर उतरने के लिए भाव-भूमि को बदलना अनिवार्य था, किन्तु वह कोई सरल काम नहीं था, क्योंकि वे भाव लोक-मानस की निगूढ़ सम्पत्ति बन गये थे। इसीलिए प्रबन्ध की दिशा में कृष्ण-भक्त कवियों के प्रयत्न बहुत कम हुए और जो हुए वे प्राचीन धरा पर ही प्रतिष्ठित रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण-काव्य-परम्परा अबाध गति से आगे बढ़ती गई और उसने लोक-मानस को इतना अभिभूत कर लिया कि राम-भक्ति-काव्य के लिए उसमें बहुत कम गुंजाइश रह गई।

इसके विपरीत रामकाव्य मर्यादित भावों के अतिक्रमण का साहस न कर सका क्योंकि राम के व्यक्तित्व के साथ चरित्र-विकास की गुंजाइश तो थी, किन्तु हर तरह की भावोर्मियों के तरंगित होने के लिए कोई वातावरण नहीं बन सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जो कुछ तुलसीदास ने कहा, वही उनके परवर्ती कवियों का पथ बना। उस दिशा में हेर-फेर के लिए जो भूमिकाएँ खोजी गईं, उनका प्रभाव नगण्य होने से, उपेक्षित ही रहीं। इसके अतिरिक्त रामचरितमानस में भाव और कला, दोनों को जो सुयोग प्राप्त हुआ, बाद के काव्य में उसकी होड़ नहीं की जा सकी। होड़ का फल रामचन्द्रिका में स्पष्ट है। इसका एक कारण तो यह था कि ऐसी पूर्ण कृति का अनुसरण या अनुवर्तन अनुकृतिकार की समस्या थी, दूसरे उसमें ऐसी विशेषताओं का विनिवेश था जिनका घटाना-बढ़ाना उद्‌बुद्ध चेतना पर एक व्याघात ही सिद्ध होता।

आगे चल कर कृष्ण-भक्ति कुछ और साम्प्रदायिक शाखाओं में विभक्त हो गयी। वह मुसलमानों के कुछ प्रेम-तत्त्वों से भी प्रभावित हुई और उसने मुसलमानों को प्रभावित भी किया। यों तो कबीर आदि के समय में ही भक्ति पर सूफियों का प्रभाव झलकने लगा था किन्तु बाद में तो उसमें कुछ और ही रंग बढ़ता चलता गया। हिन्दी-भक्ति-रचनाएँ विरह की तीव्रता को फारसी ढंग की अन्योक्तियों में व्यक्त करने लगीं। विरही के भावों में फना की भावना प्रबल रूप धारण करने लगी। भारतीय भक्ति में जो चेतनात्मक आकर्षण था वह अब प्रायः जड़तात्मक आवेगों में डूबने लगा। इस प्रभाव के दो रूप थे—एक भावनात्मक था और दूसरा अभिव्यंजनात्मक।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भागवत के बाद के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने कृष्ण को वात्सल्य और शृंगार के आलंबन के रूप में ही स्वीकार किया। उनको गोपीवल्लभ और

यशोदानन्दन विशेष आकर्षक प्रतीत हुए। उनकी प्रेममूर्ति उन्हे अधिक प्रार्थनीय दीख पड़ी। यद्यपि कृष्ण का अवतार अधर्म के विनाश और धर्म के उत्थान के लिए ही हुआ माना जाता है किन्तु उनकी उस धर्ममूर्ति में उनका आकर्षण नही रह गया था जितना प्रेममूर्ति में। इस मूर्ति के प्रति भारतीय भक्तों का जो आकर्षण बढा उसके कारण को इतिहास में खोजना अनुचित न होगा। गोपाल, गोपीश, गोपीवल्लभ, राधावल्लभ, यशोदानन्दन, नदनन्दन आदि नाम केवल विष्णुसहस्रनाम की संख्यापूर्ति करने के लिए नही है, वरन् वे सामाजिक इतिहास की भूमि पर भक्ति के विकास को खोजने की प्रेरणा देते हैं। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध अथवा उनकी प्रेम-लीलाएँ भारतीय सस्कृति के विकास के इतिहास के अध्याय को सामने लाने में सहायक होती है। उक्त लीलाओ को आभीर-सस्कृति के रगमच पर देखना ही अधिक उपयुक्त होगा।

आज आर्य-संस्कृति का जो रूप दृष्टिगोचर हो रहा है उसको विकास की एक धारा के रूप में ही देखना चाहिये क्योकि उसका वह मौलिक रूप जो ऋग्वेद में मिलता है, अब इतना मिश्रित हो गया है कि उसको पहचानना सरल काम नहीं है। जिस प्रकार शकादि की सस्कृति धर्म-सस्कृति में विलीन हो गई, उसी प्रकार आभीर और गुर्जर सस्कृति भी। इन संस्कृतियो में आदान-प्रदान की बडी क्षमता रही होगी अन्यथा यह समन्वय दिखाई न देता। मैं समझता हूँ 'प्रेममूर्ति' कृष्ण और राधा आभीर संस्कृति के महत्वपूर्ण उपादान हैं। इसी तत्त्व के कारण भारतीय भक्ति अपने अस्तित्व को बनाये हुए है अन्यथा सूफी-प्रेम की तीव्रता के साथ-साथ वह सूफी मत मे डूब गई होती।

हाँ तो, भक्ति मे जो शाखा-प्रशाखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे १७वी शती के अवसान तक का इतिहास प्रस्तुत करती है। फिर तो भक्ति-धारा की प्रगति रुक गई। उनमें टूट-फूट और पिष्ट-पेषण प्रारम्भ हो गया। जनता के हृदय मे भक्ति का कितना ही प्रभाव रहा हो, लेखनी पर भक्ति का प्रभाव शिथिल पड गया था। रीतिकालीन प्रवृत्तियो ने लेखनी की दिशा बदल दी थी। इस समय मे पूर्व राजनीतिक परतंत्रता के होते हुए भी जन-मन स्वतन्त्र था, किन्तु इस समय मानसिक परतंत्रता का बोलबाला होने से काव्य-रुचि एकदेशीय हो गई थी। यह कहना अनर्गल न होगा कि कवि लोग एक विशेष दिशा पकड कर खूब बढे, किन्तु उनकी वह गति चक्राकार थी, जिसमें प्राय. गतानुगतिकता ही प्रवृत्ति बन गई थी। इस प्रवृत्ति के निर्माण मे युग-परिस्थितियो का योग भी था। इस युग के बाद भी भक्ति अपनी पूर्व दिशा साहित्य मे न पा सकी। अंग्रेजों की राजनीतिक चालो, तथा पश्चिमी वादो के झोको से भारतीय साहित्य की सरसता को बडा आघात पहुँचा और वह निरन्तर क्षीण होती चली गई। वैज्ञानिकता तथा भौतिकता ने भक्ति को बडा धक्का दिया। मार्क्स के भौतिक अर्थवाद तथा फ्रायड के यौनवाद से भी उसको बडा आघात ही मिला, और साहित्यिक आदर्श घुट कर विक्षिप्त होने लगा।

यह सब होते हुए भी जिस प्रकार रीतिकाल में भक्ति के प्राण नष्ट नही हुए उसी प्रकार आधुनिक काल मे भी बिल्कुल नष्ट नही हुए। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद तथा समाजवाद के वन में भी भक्ति की वाटिका मे कुछ सुमन तो खिल कर ही रहे, इसीलिए हम देखते हैं कि राष्ट्रवाद के

प्रचारक हो कर भी मैथिलीशरण गुप्त भक्ति के आधुनिक उन्नायकों में प्रशस्त रहे। 'उद्धवशतक' 'भ्रमरदूत' आदि ब्रजभाषा की आधुनिक रचनाएँ तो भारतेन्दु बाबू की आधुनिक भक्ति-धारा को आगे बढ़ाने में पहले ही योग दे चुकी थीं। निराला के कुछ गीतों में भी भक्ति का स्वर मुखरित हुआ, चाहे वह रहस्यवादी परंपरा में ही क्यों न हुआ हो। 'पार्वती' खड़ीबोली में मैथिलीशरण की भक्ति-परंपरा को आगे बढ़ा कर भक्ति के भविष्य को संकेतित कर रही है।

प्रयोगवाद के भविष्य का भक्ति के भविष्य के साथ क्या समझौता होगा, इस संबंध में कुछ कहना कठिन है, किन्तु प्रयोगवाद के रुख से प्रतीत तो यह हो रहा है कि आसार कुछ अधिक अच्छे नहीं हैं।

आधुनिक कविता में भी भक्ति के सिद्धान्तों और स्वरूपों में कुछ भेद नहीं आया है।

स्वरूप

जो सिद्धान्त या भक्ति का जो स्वरूप संस्कृत साहित्य में मिलता था वही कुछ थोड़े विकास-चिह्नों के साथ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मिलता रहा और जो कुछ मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में मिला, आधुनिक साहित्य में उसका व्यतिक्रम नहीं मिलता। अतएव मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के आधार पर भक्ति के स्वरूप और सिद्धान्तों का परिचय दे देना उपयुक्त ही होगा।



यशोदानन्दन विशेष आकर्षक प्रतीत हुए। उनकी प्रेममूर्ति उन्हे अधिक आराधनीय दीख पड़ी। यद्यपि कृष्ण का अवतार अधर्म के विनाश और धर्म के उत्थान के लिए ही हुआ माना जाता है किन्तु उनकी उस धर्ममूर्ति में उनका आकर्षण नही रह गया था जितना प्रेममूर्ति में। इस मूर्ति के प्रति भारतीय भक्तो का जो आकर्षण बढ़ा उसके कारण को इतिहास में खोजना अनुचित न होगा। गोपाल, गोपीश, गोपीवल्लभ, राधावल्लभ, यशोदानन्दन, नदनन्दन आदि नाम केवल विष्णुसहस्रनाम की सख्यापूर्ति करने के लिए नही है, वरन् वे सामाजिक इतिहास की भूमि पर भक्ति के विकास को खोजने की प्रेरणा देते हैं। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध अथवा उनकी प्रेम-लीलाएँ भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास के अध्याय को सामने लाने में सहायक होती है। उक्त लीलाओ को आभीर-सस्कृति के रंगमच पर देखना ही अधिक उपयुक्त होगा।

आज आर्य-संस्कृति का जो रूप दृष्टिगोचर हो रहा है उसको विकास की एक धारा के रूप में ही देखना चाहिये क्योंकि उसका वह मौलिक रूप जो ऋग्वेद में मिलता है, अब इतना मिश्रित हो गया है कि उसको पहचानना सरल काम नही है। जिस प्रकार शकादि की संस्कृति धर्म-संस्कृति में विलीन हो गई, उसी प्रकार आभीर और गुर्जर संस्कृति भी। इन संस्कृतियो में आदान-प्रदान की बड़ी क्षमता रही होगी अन्यथा यह समन्वय दिखाई न देता। मैं समझता हूँ 'प्रेममूर्ति' कृष्ण और राधा आभीर संस्कृति के महत्वपूर्ण उपादान हैं। इसी तत्व के कारण भारतीय भक्ति अपने अस्तित्व को बनाये हुए है अन्यथा सूफी-प्रेम की तीव्रता के साथ-साथ वह सूफी मत मे डूब गई होती।

हाँ तो, भक्ति में जो शाखा-प्रशाखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे १७वी शती के अवसान तक का इतिहास प्रस्तुत करती हैं। फिर तो भक्ति-धारा की प्रगति रुक गई। उनमें टूट-फूट और पिष्ट-पेषण प्रारम्भ हो गया। जनता के हृदय मे भक्ति का कितना ही प्रभाव रहा हो, लेखनी पर भक्ति का प्रभाव शिथिल पड गया था। रीतिकालीन प्रवृत्तियो ने लेखनी की दिशा बदल दी थी। इस समय से पूर्व राजनीतिक परतंत्रता के होते हुए भी जन-मन स्वतन्त्र था, किन्तु इस समय मानसिक परतंत्रता का बोलबाला होने से काव्य-रुचि एकदेशीय हो गई थी। यह कहना अनर्गल न होगा कि कवि लोग एक विशेष दिशा पकड कर खूब बढे, किन्तु उनकी वह गति चक्राकार थी, जिसमें प्राय गतानुगतिकता ही प्रवृत्ति बन गई थी। इस प्रवृत्ति के निर्माण मे युग-परिस्थितियो का योग भी था। इस युग के बाद भी भक्ति अपनी पूर्व दिशा साहित्य मे न पा सकी। अंग्रेजो की राजनीतिक चालो, तथा पश्चिमी वादो के झोको से भारतीय साहित्य की सरसता को बडा आघात पहुँचा और वह निरन्तर क्षीण होती चली गई। वैज्ञानिकता तथा भौतिकता ने भक्ति को बडा धक्का दिया। मार्क्स के भौतिक अर्थवाद तथा फ्रायड के यौनवाद से भी उसको बडा आघात ही मिला, और साहित्यिक आदर्श घुट कर विक्षिप्त होने लगा।

यह सब होते हुए भी जिस प्रकार रीतिकाल में भक्ति के प्राण नष्ट नही हुए उसी प्रकार आधुनिक काल मे भी बिल्कुल नष्ट नही हुए। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद तथा समाजवाद के वन में भी भक्ति की वाटिका मे कुछ सुमन तो खिल कर ही रहे, इसीलिए हम देखते हैं कि राष्ट्रवाद के

प्रचारक हो कर भी मैथिलीशरण गुप्त भक्ति के आधुनिक उन्नायकों में प्रशस्त रहे। 'उद्धवशतक' 'भ्रमरदूत' आदि व्रजभाषा की आधुनिक रचनाएँ तो भारतेन्दु बाबू की आधुनिक भक्ति-धारा को आगे बढ़ाने में पहले ही योग दे चुकी थीं। निराला के कुछ गीतों में भी भक्ति का स्वर मुखरित हुआ, चाहे वह रहस्यवादी परंपरा में ही क्यों न हुआ हो। 'पार्वती' खड़ीबोली में मैथिलीशरण की भक्ति-परंपरा को आगे बढ़ा कर भक्ति के भविष्य को संकेतित कर रही है।

प्रयोगवाद के भविष्य का भक्ति के भविष्य के साथ क्या समझौता होगा, इस संबंध में कुछ कहना कठिन है, किन्तु प्रयोगवाद के रुख से प्रतीत तो यह हो रहा है कि आसार कुछ अधिक अच्छे नहीं हैं।

आधुनिक कविता में भी भक्ति के सिद्धान्तों और स्वरूपों में कुछ भेद नहीं आया है।

स्वरूप

जो सिद्धान्त या भक्ति का जो स्वरूप संस्कृत साहित्य में मिलता था वही कुछ थोड़े विकास-चिह्नों के साथ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मिलता रहा और जो कुछ मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में मिला, आधुनिक साहित्य में उसका व्यतिक्रम नहीं मिलता। अतएव मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के आधार पर भक्ति के स्वरूप और सिद्धान्तों का परिचय दे देना उपयुक्त ही होगा।

: ५ :

वैष्णव भक्ति के परिपार्श्व में हिन्दी-कविता

(१५-१६वीं शती)

भक्ति का स्वरूप

भक्ति का मूल तत्त्व भगवान् की सेवा करना है। सेवा का यह भाव न तो सेव्य के भय के कारण उदित होता है और न सेवक के स्वार्थ के कारण। उसमें केवल शुद्ध प्रेम की प्रेरणा होती है। भक्त और दुनियादार की प्रेम-पद्धति एक-सी होती है। विनय-पत्रिका के एक पद में यही लक्षण दिखलाते हुए तुलसीदास कहते हैं—'क्या अच्छा हो कि यह मन सहज ही राम के चरणों में इस प्रकार लग जाए जैसे देह, गेह, धन, पुत्र, कलत्र आदि में यह सहज ही मग्न हो जाता है, है। तभी समझिये कि भक्ति का उदय हो गया, भगवान् के चरणों में दृढ़ प्रेम हो गया। बस, फिर क्या है? द्वंद्वों से मुक्ति मिल जायगी, अभिमान दूर हो जायगा, ज्ञान में तल्लीनता हो जायगी, विषयों से विरति हो जायगी, अनेक परीक्षाओं में सफलता मिलेगी और सर्व-हितैषिता तथा मन की निर्मलता सिद्ध हो जायगी। भला, फिर सुखनिधि, चतुर भगवान् राम प्रसन्न होकर वशीभूत क्यों न होंगे? किन्तु यह राम के अनुग्रह से ही सम्भव हो सकता है[1]।" अतः तुलसीदास भगवान् से इसी प्रकार के प्रेम की याचना करते हैं कि "हे रघुनाथ, जिस प्रकार कामी को स्त्री और लोभी को धन प्रिय लगता है उसी प्रकार आप मुझे निरन्तर प्रिय लगते रहें।"[2] सम्भवतः ऐसी प्रेम-पद्धति की शिक्षा तुलसीदास को भक्त प्रह्लाद से मिली हो। वे भी विष्णु पुराण[3] में भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते हैं। पार्थिव प्रेम और भगवत्प्रेम की पद्धति एक होते हुए भी दोनों की स्थितियों में प्रथित अन्तर है। आसक्ति के सब पार्थिव लक्ष्य नश्वर होने से सान्त हैं, किन्तु भक्ति का लक्ष्य अनश्वर और अनन्त है।

---

१. वि० प०—२०४

२. कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥ (रा० च० मा०)

३. या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(वि० पु०, १.२०.१९)

जब अनुरक्ति का प्रवाह अनेक से एक की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, जगत् से भगवान् के चरणों की ओर मुड़ जाता है, उसी दशा में भक्ति का रूप बनता है। विनयपत्रिका में भक्ति का यही रूप सामने रखते हुए तुलसीदास कहते हैं—"जिसे श्रीराम और सीता प्रिय नहीं हैं उसे करोड़ों वैरियों के समान समझ कर छोड़ देना चाहिये, चाहे वह अपना परम स्नेही ही क्यों न हो।.........जिसके कारण राम के चरणों में स्नेह हो, वही सब प्रकार से हितैषी पूज्य और प्राणों से भी अधिक प्रिय है। बस, यही हमारा सिद्धान्त है।"[1] यही अनन्य भक्ति का लक्षण है।

राम के पूछने पर उनके निवासोचित स्थान बतलाते हुए वाल्मीकि उक्त लक्षण ही की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"हे तात ! स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु—सब कुछ जिनके तुम्हीं हो, उनके मन-मन्दिर में तुम दोनों भाई सीता सहित निवास करो।"[2]

और वनगमन के लिए उद्यत लक्ष्मण-राम के प्रति अपनी विनयोक्ति में उसी अनन्यता का परिचय इस प्रकार देते हैं—"हे नाथ ! मैं स्वभाव से कह रहा हूँ, मेरा विश्वास कीजिये कि मैं आपके सिवा और किसी को माता, पिता और गुरु नहीं समझता हूँ। हे दीनबन्धो ! सर्वान्तर्यामिन् ! जगत् में जहाँ तक स्नेह और नाते हैं तथा शास्त्र में जिनके प्रति प्रीति और विश्वास की बात कही गई है, मेरे लिए तो वह सब कुछ आप ही हैं।"[3]

अनन्य भक्ति का यह लक्षण नया आविष्कार नहीं है। शांडिल्य के "सा परानुरक्तिरीश्वरे"[4] सूत्र में इसी लक्षण की ओर संकेत है और नारद ने "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा"[5] द्वारा इसी की पुष्टि की है। भक्ति की परमता केवल परमात्मा में सिद्ध होती है क्योंकि जगत् के अनित्य नानात्व के नित्य समाहार की प्रतीति उसी में होती है। नानात्व से अनानात्व में, अनेकत्व से एकत्व में पहुँचकर ही प्रेम अपने अखंड रूप में प्रकट हो सकेगा। नानात्व की तुच्छता सामने आ जायगी और प्रेम का आलंबन (समष्टि-संबंध का प्रतीक) सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होने लगेगा। कदाचित् प्रेम की ऐसी ही अवस्था में सूरदास लिखते हैं—'भक्त का भगवान् जैसा कोई दूसरा स्वामी नहीं है। सेवक को जिस प्रकार भी सुख मिले भगवान् उसे उसी प्रकार रखता है। वह भूखे को भोजन, प्यासे को जल और नंगे को वस्त्र देता है। वह अपने भक्त के साथ उसी प्रकार लगा फिरता है जैसे घर-वन जाते-आते समय गाय अपने बछड़े के साथ लगी फिरती है। वह अत्यन्त उदार, चतुर, अभिलाषा पूर्ण करने वाला, और निर्धन के लिए करोड़ों कुबेर के समान है। वह याचना करने वाले अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखता है। संकट पड़ने पर तुरन्त

१. वि० प०, १७४: तु० की०, ना० भ० सू०, ११
२. रा० च० मा०, पृ० ४६७
३. रा० च० मा०, पृ० ४१५
४. शां० भ० सू०, २
५. ना० भ० सू०, २

दौड़ा आता है, वह ऐसा प्रणवीर है। वह महा कृतघ्न पुरुषों तक के लिए करोड़ों उपकार करता है। वह उनके एक भी दोष को हृदय में नहीं लाता[1]।"

इसी प्रकार विनयपत्रिका (पद १६२) में तुलसीदास 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं' से राम के औदार्य की अनुपमता प्रतिष्ठित करते हैं। अनन्य प्रेम की दशा में भक्त को भगवान् में ऐसे अनन्त गुणों का दर्शन होता रहता है जो उसके आकर्षण का केन्द्र बने रहते हैं।

भक्ति स्वयं फलरूपा[2] है, अतः वह निर्हेतुक है और परानुरक्ति भी निष्काम भक्ति ही को कह सकते हैं। भक्ति का यह स्वरूप गीता[3], भागवत[4] आदि तक ही सीमित नहीं है, आगे भी बढ़ा चला आता है और इससे प्रभावित होकर रसखान घोषणा कर उठते हैं कि "शुद्ध और अखंड प्रेम वह है जिसके लिए यौवन, गुण, रूप और धन की अपेक्षा नहीं है, जो स्वहित या स्वार्थ से रहित है और जिसमें कामना का लेश तक नहीं है[5]।"

प्रेम की अखंडता निष्काम भक्ति में ही रह सकती है। अतः गीता में भगवान् ने स्थान-स्थान पर 'निष्कामत्व' का उपदेश दिया है। वे अर्जुन से कहते हैं 'हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाए, जो हवन में होम करे, जो दान में दे, जो तप करे वह सब मुझे अर्पण करके कर। इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्मबंधन से छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पाएगा।"[6] इसी उपदेश को मानो अंगीकार करके कबीर भक्तोचित सहज दैन्य के साथ अपने समर्पण में अनासक्ति का भाव भर कर कहते हैं— 'मेरा क्या है? मेरा तो कुछ नहीं। जो कुछ है सब तेरा ही है। तेरा तुझे सौंपने में मेरा क्या लगता है?"[7]

भक्ति अमृतस्वरूपा[8] कही जाती है। इसमें लोकोत्तर माधुर्य होता है। "जिस प्रकार मूक गुड़ के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार भगवत्प्रेम वाणी द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता[9]।" इस रस को जो चखता है वही जानता है।

---

१. सू० सा०, पृ०३
२. ना० भ० सू०, ३०
३. गीता ६, २७, २८ तथा गीता १२. ११
४. भाग० १. २. ६
५ बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि।
६ गीता ६, २७, २८ तथा १२. ११ तथा देखिए, ना० भ० सू०, ६५।
७ मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता, का लागे है मेरा। (क० ग्रं० पृ० १६)
तु० की०, ना० भ० सू०, ६५
८ देखिये, ना० भ० सू०, ३
९ कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया बूझे तो का कहिये। (क० ग्र० पृ० १३१ तु० की०; ना०) भ० सू०, ५१, ५२

भक्ति-विभोर भक्त को भगवान् के सिवा और कुछ नहीं दीखता। वह जिधर देखता है उधर उसे भगवान् का ही दर्शन होता है। "नेत्र, वाणी, मन, शरीर का कोना-कोना प्रियतम का आवास बन जाता है।"[१] यही तो भगवदासक्ति की वह अवस्था होती है जिसमें पर-छवि के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। उसी की मानों अनुभूति करके रहीम कहते हैं—"नेत्रों में तो प्रियतम की माधुरी बसी हुई है, दूसरे का सौन्दर्य कहाँ समाएगा? वह अपने आप ही लौट जाएगा, जैसे सराय को भरी देखकर पथिक स्वतः ही लौट जाता है।"[२] सूरदास की गोपियों के हृदय में भी नंद-नंदन के सिवा और किसी के लिए स्थान नहीं है। भला, उनके होते हुए किसी और को कैसे बुलाया जा सकता है।[३] इसी अवस्था में प्रेमी, प्रेम और प्रिय में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता।[४]

भगवान् भक्ति द्वारा ही मिलते हैं, परन्तु भक्ति हर किसी को मिलती भी तो नहीं। वह केवल उसी को मिलती है जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है।[५] सच तो यह है कि 'भगवान् को केवल प्रेम (भक्ति) प्यारा है।"[६] प्रेम के कारण ही भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में निवास करते हैं। भरत भक्ति की इसी स्थिति में हैं। भरत के प्रेम ने राम को इतना मुग्ध कर लिया है कि जगत् राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं।[७] प्रेम का यह आकर्षण, भक्ति का यह जादू भगवान् ने गीता में स्वयं स्वीकार किया है। वे कहते हैं—"यद्यपि मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूँ, मुझे किसी से राग-द्वेष नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्ति-पूर्वक

१. नंद० ग्र०, पृ० १२६ : तु० की०, ना० भ० सू०, ५५

२. प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय।

३. देखिए सूरदास : रहीम
"नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥

४. देखिये—रहीम :
प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक हि ह्वै द्वै मैं लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥

५. तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन।
जानहि भगत-भगत उर चन्दन। (रा० च० मा०, पृ० ४६४)
(तु० की०, "भगवत्कृपालेशाद्वा" ना० भ० सू०, ३८)

६. रा० च० मा०, पृ० ४७२ : "रामहि केवल प्रेम पियारा"
तु० की०, महाभारत, १२–३४३–५४,५५

७. रा० च० मा०, पृ० ५४४ : "भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही।"
तु० की० गीता ९.२९ 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

भजते हैं वे मुझमें और मैं उनमें रहता हूँ ।"[1] तुलसीदास ने भगवान् की इस प्रवृत्ति व बृहस्पति के मुख से इन्द्र के प्रति इन शब्दों में व्यक्त करवाया है—"यद्यपि राम समदर्शी। उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, वे किसी के पाप-पुण्य या गुण-दोष को ग्रहण नहीं करते हैं, उन्होंने सारे संसार के लिए कर्म प्रधान कर रखा है, जो जैसा करता है वैसा फल पाता है, वे भक्त-अभक्त के हृदय के अनुसार सम-विषम विहार करते हैं।"[2] उन अपने दास से अधिक प्रीति होती है।"[3]

भक्ति पापों का नष्ट कर देती है। भगवान् की शरण में आ जाने पर पापी भी पुण्यात्मा हो जाते हैं। अपावन को पावन करना, अशरण को शरण देना तथा अरक्षित की रक्षा करना भगवान् का स्वभाव है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए रामचरितमानस में भरत राम से कहते हैं—'हे नाथ! आपकी रीति, सुन्दर स्वभाव और बड़ाई जगत् में विख्यात है। इनकी वेद-शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा है। क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुमति, कलंकी, नीच, निःशील, निरीश और निःशंक को भी सामने शरण में आया हुआ सुन कर, एक बार प्रणाम करते ही, आप तुरन्त अपना लेते हैं। उनके दोषों को हृदय में न लाकर आप साधु-मंडली में उनके गुणों की ही प्रशंसा करते हैं।"[4] गीता में भगवान् ने भक्ति की महिमा और अपने स्वभाव का ऐसा ही वर्णन किया है।

भक्ति रस का स्वाद ले लेने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब तुच्छ एवं हेय दीख पड़ते हैं। भक्त तो शरीर की उपयोगिता तक भक्ति के संबंध से ही मानता है। यदि इस शरीर का उपयोग भगवान् की भक्ति के लिए नहीं हुआ तो यह व्यर्थ है। अतः तुलसीदास कहते हैं—"जिन्होंने अपने कानों से भगवान् की कथा नहीं सुनी, उनके कान सांप के बिल के समान हैं। जिन्होंने अपनी आंखों से संतों के दर्शन नहीं किये, उनकी आँखें मोरपंख पर बनी हुई आंखों के समान हैं। वे शिर, जो हरि-गुरु के पद-मूल में नहीं झुकते, कड़वी तूँबी के समान हैं। जिन्होंने अपने हृदय में ईश्वर-भक्ति को धारण नहीं किया, वे प्राणी जीवित दशा में भी मृतक के समान हैं। जो जीभ राम के गुणों का गान नहीं करती, वह मेंढक की जीभ के समान है। वह हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है,जो हरि-चरित्र को सुनकर गद्‌गद् नहीं होता।"[5] भक्ति के बिना शरीर की व्यर्थता का ऐसा ही वर्णन 'भागवत'[6] में मिलता है। संभवतः भक्तों में यह भाव परम्परा बन कर चला आया है। दादू भी भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हुए कहते हैं—"यदि जीवन भक्ति से सरसित नहीं है तो करोड़ वर्षों तक जीवित रहने अथवा अमर होने से भी क्या लाभ ?"[7]

---

१. गीता ९. २९
२. रा० च० मा०, पृ० ५४५
३. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ९९१
४. रा० च० मा०, पृ० ६१७ . तु० की०, गीता १८.६६ तथा ९.३०
५. रा० च० मा०, पृ० ११५
६. देखिये—भाग० २.३.२०-२४
७ दा० बा० १, पृ० ६६, पं० १२-१३

भक्ति के साधन

संस्कृत साहित्य के भक्ति-ग्रंथों में भक्ति के अनेक साधनों का वर्णन मिलता है, जिनमें सत्संग को प्रमुख माना गया है। सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं—"जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग मेरी प्रसन्नता का, मुझे वश में कर लेने का, जैसा सफल साधन है वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्ति और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ-व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश करने में समर्थ नहीं हैं।" सत्संग अमोघ[२] होता है। उसके अमित प्रभाव को सब भक्त एक मत से मानते चले आए हैं। तुलसीदास कहते हैं—"प्राणी भक्ति को, जो स्वतंत्र और सकल सुखों का आकर है, सत्संग बिना नहीं पाते।"[३] इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—"सत्संग बिना भगवद्वार्ता नहीं होती, भगवद्वार्ता के बिना मोह नहीं मिटता और मोह का नाश हुए बिना भगवान् के चरणों में दृढ़ प्रेम नहीं होता। बिना प्रेम के योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों से भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती।"[४] "यदि स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को एक साथ एक पलड़े में और पल भर के सत्संग के सुख को दूसरे पलड़े में रखकर तोला जाय तो वे बराबर नहीं हो सकते।"[५] परन्तु क्षण भर का सत्संग भी दुर्लभ है।[६] "सत्संग की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है और उससे प्रयास बिना ही भव-बंधन (आवागमन) नष्ट हो जाता है।[७] सच तो यह है कि "सत्संग के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, परन्तु वह भगवान् की कृपा से ही होता है।"[८]

संत स्वयं अनन्य भक्त होता है, इसीलिए संत-समागम से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[९] भक्ति-साहित्य में संत और भगवान् में अंतर नहीं माना गया। विनयपत्रिका[१०] में 'संत

१. भाग० ११.१२. १-२
२. देखिये, ना० भ० सू०, ३६
३. रा० च० मा०, पृ० ११२०
४. रा० च० मा०, पृ० १०३५
५. रा० च० मा०, पृ० ७५७ : तु० की०, भाग० १.१८.१३
६. रा० च० मा०, पृ० १११२ : तु० की०, ना० सू० ३६
७. रा० च० मा०, पृ० १००६
८. रा० च० मा०, पृ० १११५ तथा
वि० प० स्तु० १३६, पद १०, मंत्र ३ तु० की०, ना० भ० सू०, ४०
९. देखिये-रै० बा०, पृ० ३७, पं० २३ : तु० की०, अ० रा०, अर० कां०, ३.३७ ३६ तथा
रा० च० मा०, पृ० ६६८

भगति तात अनुपम सुखमूला,
मिलइ जौं संत होहिं अनुकूला ॥

१०. वि० प०, पद ५७, अंतिम पंक्ति

भगवन अंतर निरंतर नहीं किमपि' से और सूरसागर[1] में 'हरि हरिभक्त एक नहिं दोई' से भगवान् और सन्त (भक्त) की एकता प्रकट की गई है। "साधू प्रतषि देव[2] है" से हम कबीर के हृदय में साधुओं (संतों) के प्रति उसी भावना का दर्शन करते हैं। संत-समागम और भगवत् समागम दोनों अन्योन्याश्रय हैं। पहले से दूसरे की और दूसरे से पहले की प्राप्ति होती है।[3] 'साधु-संतों की सेवा से हरि प्रसन्न होते हैं।'[4] भगवान् भक्तों के वश में हैं। भगवान् को पाने के लिए भक्तों (संतों) से प्रेम बढ़ाना चाहिए।[5] कबीर 'साधु-संगति को ही बैकुंठ' कहते हैं।[6]

गुरु को भक्ति का एक साधन माना गया है। यों तो गुरु संतों की श्रेणी में होने से, भक्ति का सत्संग से अलग साधन नहीं बनता, परन्तु शिष्य के साथ गुरु का संबंध सामान्य संत की अपेक्षा प्रगाढ़तर होता है, अतः भक्ति-ग्रन्थों में गुरु का निरूपण भक्ति के पृथक् साधन के रूप में किया गया है। हिन्दी-साहित्य में गुरु की महिमा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखा गया है जिस प्रकार वह संस्कृत साहित्य में मिलती है। भक्त का धर्म सीखने के लिए साधक को गुरु की बड़ी आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु अपने अनुभव के रहस्य का उद्घाटन करके शिष्य के साधन-पथ को परिशुद्ध बना देता है। भगवान् को प्रसन्न करने वाले भाव और आचरण की क्रियात्मक शिक्षा शिष्य को गुरु से ही मिलती है।[7]

"सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम-समूह मिट जाता है।"[8] मनुष्य-शरीर इस संसार-सागर में एक पोत है, भगवान् का अनुग्रह अनुकूल पवन है और सद्गुरु उसका केवट है।[9] गुरु की आवश्यकता और कृपा का वर्णन उपनिषदों[10] ने भी किया है। शंकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य में गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—"जैसे तपे हुए मस्तक वाले पुरुष के लिए जलाशय के सिवा और कोई उपाय नहीं है तथा भोजन के सिवा क्षुधातुर पुरुष की शान्ति का और कोई साधन नहीं है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म-विद्या का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"[11] गीता[12] में गुरु-पूजा को शारीरिक तपों में परिगणित किया गया है। तुलसीदास

१. सू० सा०, पृ० ३२, पद १६
२. क० ग्र०, पृ० ४४, पं० ५ तथा पृ० २७३.३०
३. देखिये, दा० बा०, T, पृ० ६४, पं० २२
४. व्यासजी : अ० मा० सा०, पृ० २११
५. देखिये, सू० सा०, पृ० २४, पद १२७
६. क० ग्र०, पृ० २६३.१८ : तु० की० : अ० रा० अ० का०, ३.३६
७. देखिये, भाग० ११.३.२१-२२
८. रा० च० मा०, पृ० ७३५
९. रा० च० मा०, पृ० १०१६
१०. देखिये, श्वे० उप०, ६.२३
११. देखिये, श्वे० उप०, ६.२३ 'शांकर भाष्य'
१२. गीता, १७.१४

ने अपनी रचनाओं में गुरु को कुछ कम सम्मान नहीं दिया। उन्होंने गुरु को न केवल हरि-भक्ति का साधन कहा है वरन् गुरु की पूजा को हरि-भक्ति का ही एक प्रकार बतलाया है।[१] गुरु-पूजा को हरि-पूजा कह कर तुलसीदास ने कोई नया मार्ग तैयार नहीं किया! अध्यात्म रामायण[२] के रचयिता की भी गुरु-पूजा के संबंध में यही भावना रही है। गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं—"जो गुरु के चरणों की धूलि को सिर पर धारण करते हैं, गुरु के प्रति श्रद्धावान् हैं, वे मानों सकल वैभव को आत्मसात् कर लेते हैं।"[३] मलूकदास गुरु के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"केवल गुरु के शब्दों में विश्वास ही संसार-सागर से पार ले जा सकता है।"[४] नानक का कहना है कि "गुरु-सेवा से सब सन्तापों का नाश हो जाता है।"[५]

भारतीय संस्कृति के इतिहास से विदित होता है कि वैदिक काल से ही गुरु को अनुपम श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र माना गया है। गुरु को जितनी मान्यता वैष्णव सम्प्रदायों में दी गई है अवैष्णव संप्रदायों में भी संभवतः उससे कुछ कम नहीं दी गई। योग-सम्प्रदायों में तो गुरु को और भी अधिक महत्त्व दिया गया दीख पड़ता है, क्योंकि क्रियापरक होने से योग-मार्ग की सफलता गुरु के मार्ग-दर्शन से सम्बन्धित रहती है। शिवसंहिता[६] में गुरु को पिता, माता और साक्षात् देव माना गया है तथा मन, वाणी और कर्म से गुरु की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कबीर-पंथ में गुरु को योगपरंपरा[७] के अनुकूल ही महत्त्व दिया गया है। सम्भवतः कबीर ने गुरु-महत्त्व को नाथ-पंथ से पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही ग्रहण किया है।

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ"

इस वाक्य से श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.२३) ने प्राचीन काल में ही गुरु को देव-समता प्रदान कर दी थी। धीरे-धीरे भेद हट गया और गुरु और देव में अभेद हो गया।[८] अभेद की यही भावना हमें हिन्दी के भक्त कवियों के हृदय में मिलती है। 'गुरु गोविन्द तो एक है' कह कर कबीर[९] ने दोनों में अभेद ही स्वीकार किया है। वल्लभ सम्प्रदाय[१०] में भी अभेद ही माना गया है।

१. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८, दो० ४२
२. देखिये, अ० रा, १०.२४
३. रा० च० मा०, पृ० ३५५
४. म० बा०, पृ० १८, पं० ७
५. प्रा० स०, पृ० २२५, पं० ६
६. शि० सं०, ३.१३
७. देखिये, डाक्टर पी० डी० बडथ्वाल : दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री : पृ० १६७ फुटनोट
८. देखिये, शि० सं० ३.१३
९. क० ग्रं०, पृ० ३.२६
१०. देखिये, अ० पदा०, पृ० ८३, १४०, १७६, २०४, २२४

भगवत अतर निरतर नही किमपि' से और सूरसागर[1] मे 'हरि हरिभगत एक नहि दोई' से भगवान् और संत (भक्त) की एकता प्रकट की गई है। "साधू अनपि देव[2] है" से हम कबीर के हृदय मे साधुओ (संतो) के प्रति उसी भावना का दर्शन करते है। संत-समागम और भगवत् समागम दोनो अन्योन्याश्रय हैं। पहले मे दूसरे को और दूसरे मे पहले की प्राप्ति होती है।[3] 'साधु-संतो की सेवा से हरि प्रसन्न होते हैं।'[4] भगवान् भक्तो के वश में है। भगवान् को पाने के लिए भक्तो (संतो) मे प्रेम बढाना चाहिए।[5] कबीर 'साधु-संगति को ही बैकुंठ' कहते हैं।[6]

गुरु को भक्ति का एक साधन माना गया है। यो तो गुरु संतो की श्रेणी में होने से, भक्ति का सत्संग से अलग साधन नही बनता, परन्तु शिष्य के साथ गुरु का संबंध सामान्य संत की अपेक्षा प्रगाढतर होता है, अत: भक्ति-ग्रन्थो मे गुरु का निरूपण भक्ति के पृथक् साधन के रूप मे किया गया है। हिन्दी-साहित्य मे गुरु की महिमा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखा गया है जिस प्रकार वह संस्कृत साहित्य मे मिलती है। भक्त का धर्म सीखने के लिए साधक को गुरु की बडी आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु अपने अनुभव के रहस्य का उद्घाटन करके शिष्य के साधन-पथ को परिशुद्ध बना देता है। भगवान् को प्रसन्न करने वाले भाव और आचरण की क्रियात्मक शिक्षा शिष्य को गुरु से ही मिलती है।[7]

"सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम-समूह मिट जाता है।"[8] मनुष्य-शरीर इस संसार-सागर मे एक पोत है, भगवान् का अनुग्रह अनुकूल पवन है और सद्गुरु उसका केवट है।[9] गुरु की आवश्यकता और कृपा का वर्णन उपनिषदो[10] ने भी किया है। शंकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य मे गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—"जैसे तपे हुए मस्तक वाले पुरुष के लिए जलाशय के सिवा और कोई उपाय नही है तथा भोजन के सिवा क्षुधातुर पुरुष की शान्ति का और कोई साधन नहीं है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म-विद्या का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"[11] गीता[12] में गुरु-पूजा को शारीरिक तपो में परिगणित किया गया है। तुलसीदास

१. सू० सा०, पृ० ३२, पद १६
२. क० ग्र०, पृ० ४४, पं० ५ तथा पृ० २७३.३०
३. देखिये, दा० बा०, T, पृ० ६४, पं० २२
४. व्यासजी : ब्र० मा० मा०, पृ० २११
५. देखिये, सू० सा०, पृ० २४, पद १२७
६. क० ग्र०, पृ० २६३.६८ : तु० को० : म० रा० अ० का०, ३.३६
७. देखिये, भाग० ११.३.२१-२२
८. रा० च० मा०, पृ० ७३५
९. रा० च० मा०, पृ० १०११
१०. देखिये, श्वे० उप०, ६.२३
११. देखिये, श्वे० उप०, ६.२३ 'शांकर भाष्य'
१२. गीता, १७.१४

दोनो का अभेद स्वीकार करते हुए भी कबीर और तुलसीदास गुरु की दिशा मे कुछ और प्रगति कर गये है। तुलसीदास कहते है "विधाता के कोप से गुरु रक्षा कर सकते हैं, परन्तु गुरु के विरोध से रक्षा करने वाला जगत् मे कोई नही है।"[1] तुलसीदास ने तो गुरु को केवल विधाता से ही बड़ा दिखलाया है, किन्तु कबीर गुरु को और ऊँचा सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहते है "वे मनुष्य, जो गुरु को और कहते हैं, अंधे हैं। याद रहे कि हरि के रूठने पर गुरु का आश्रय रहता है, परन्तु गुरु के रूठने पर कहीं आश्रय नही मिल सकता।"[2]

भक्ति के अनेक साधनो मे से पूर्वोक्त दो ही प्रमुख है। इनके महत्व का अनुमान इसी से हो सकता है कि कुछ भक्ति-ग्रन्थो मे इन्हे (सत्संग और गुरु-सेवा को) भक्ति के प्रकारो मे स्थान दिया गया है। भागवत मे तो भगवान् ने उद्धव के प्रति भक्ति के अनेक साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है—"जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो वह मेरी अमृतमयी कथा मे श्रद्धा रखे, निरंतर मेरे गुण, लीला और नामो का संकीर्तन करे, मेरी पूजा मे अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रो के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा में प्रेम रखे और सामने साष्टांग लेट कर प्रणाम करे। मेरे भक्तो की पूजा मेरी पूजा से बढ़ कर करे और समस्त प्राणियो में मुझे ही देखे। अपने एक-एक अंग की चेष्टा केवल मेरे ही लिए करे। वाणी से मेरे ही गुणो का गायन करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त सारी कामनाएँ छोड़ दे, मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ दान, हवन, जप, व्रत, और तप किया जाए वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मो का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदय मे मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है।"[3] अध्यात्म-रामायण मे भक्ति के उक्त साधन राम ने लक्ष्मण को संक्षेप मे इस प्रकार कहे हैं—मेरे भक्त का संग करना, निरंतर मेरी और भक्तों की सेवा करना, एकादशी आदि का व्रत करना, मेरे पर्व-दिनो को मनाना, मेरी कथा के सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या करने मे सदा प्रेम करना, मेरी पूजा में तत्पर रहना, मेरा नाम कीर्तन करना-इस प्रकार जो निरन्तर मुझ में लगे रहते है उनकी मुझ मे अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है।"[4] तुलसीदास ने सम्भवतः इन दोनो से भाव लेकर अपने ढंग से राम द्वारा संक्षेप मे इस प्रकार कहलाया है—"पहले तो ब्राह्मणो के चरणो मे अत्यन्त प्रीति हो और वेदोक्त विधि से अपने-अपने धर्म मे तत्परता हो। इसका फल फिर यह हो कि विषयो में वैराग्य हो जाए। जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब मेरे धर्म (भगवद्धर्म) में अनुराग उत्पन्न हो जाता है, श्रवणादिक नौ प्रकार की भक्ति दृढ़ हो जाती है और चित्त मे मेरी लीलाओ पर अतिशय प्रीति हो

१. रा० च० मा०, पृ० १६०
२. क० ग्र०, ०,४
३. भाग० ११. १६. २०-२४
४. अ० रा०, अर० कॉ०, ४. ४८-५०

जाती है। जो सन्तों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम करे, मन, कर्म और वचन से भजन करने का दृढ़ नियम रखे, मुझे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति और देवता आदि सब कुछ जाने और दृढ़ता से मेरी सेवा करे, मेरे गुण गाते हुए जिसका शरीर पुलकित हो जाए, वाणी गद्गद हो जाए तथा अन्तर कामादि, मद और दम्भ से रहित हो जाए, हे तात! मैं निरन्तर ऐसे मनुष्य के वश में रहता हूँ। जिनको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, मैं उन लोगों के हृदय-कमल में सदा विश्राम करता हूँ।"[1]

भक्ति के साधनों के वर्णन में तुलसीदास ने जो विशेष बात कही है वह है ब्राह्मणों की सेवा। निस्सन्देह तुलसीदास ने ब्रह्मणों को वही सम्मान प्रदान किया है जो उन्हें सनातन-धर्म में परम्परा से मिलता चला आया है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी ब्राह्मणों की पूजा की शारीरिक तपस्याओं[2] में गणना की है। भागवत में नारद युधिष्ठिर को ब्राह्मणों का गौरव दिखलाते हुए कहते हैं:— "हे युधिष्ठर! मनुष्यों में भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र है, क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और सन्तोष आदि गुणों से भगवान् के वेदरूप शरीर को ही धारण करता है। महाराज! हमारी और आपकी तो बात ही क्या, ब्राह्मण तो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तक के इष्टदेव हैं। उनके चरणों की धूलि से तीनों लोक पवित्र होते हैं।"[3]

निर्गुण कवियों के अतिरिक्त उन सब भक्तों ने, जो वैदिक धर्म में आस्था रखते हैं, ब्राह्मणों का महत्व स्वीकार किया है। कबीर आदि ने जहाँ अवतारवाद का खण्डन किया है वहाँ तीर्थादि और जाति-पाँति को भी पाखंड एवं ढ़कोसला मात्र कहा है। कबीर कहते हैं:— "सब एक ज्योति से उत्पन्न हुए हैं, फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र?"[4] नानक जाति-पाँति का खंडन करते हुए "ब्राह्मण" और को परिभाषा करते हैं कि "ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहिचाने।"[5]

भागवत में भक्ति को 'नवलक्षणा'[6] और अध्यातम-रामायण में उसे 'नवविद्या'[7] कहा गया है। तुलसीदास आदि ने भक्ति को 'नवधा'[8] कहा है। हिन्दी-भक्ति-काव्य में भक्ति के साथ 'नवधा' शब्द भक्ति के नौ प्रकारों की ओर संकेत करता है। भागवत में 'नवलक्षणा शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अध्यात्म रामायण में 'नवविधा' का प्रयोग स्पष्टतः 'नवसाधना' के अर्थ में हुआ है। हम नहीं कह सकते कि 'साधन' शब्द 'विधा' (प्रकार) का कहाँ तक पर्यायी है,

भक्ति के प्रकार

१. रा० च० मा०, पृ० ६६८–६६
२. देखिये, गीता १७.१४
३. भागवत ७. १४.४२
४. क० ग्रं०, पृ० १०६.५७
५. प्रा० सं०, पृ० २३२, पं० १
६. देखिये, भागवतः ७.५.२३ "भक्तिश्चेन्नवलक्षणा"
७. देखिये, अ० रा०, अर० कां०, १०.२७ : "एवं नवविधा भक्ति"
८. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८ : "नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं"
तथा, अ० छा० पदा० (परमानंददास) पृ० ६६, पद ३०:
"ताते नवधाभक्ति भली।"

परन्तु अध्यात्म रामायण मे दोनो शब्द एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। कुछ भी सही, भक्ति ग्रंथो मे भक्ति के कई साधनो और प्रकारो मे सामान्यतया अभेद ही माना गया है यथा, सत्सग भक्ति का साधन भी है और प्रकार भी।

यदि साधन और प्रकार के विवाद को छोडकर भागवत की 'नवलक्षणा' और अध्यात्म रामायण की 'नवविधा' भक्ति के रूप की तुलनात्मक परीक्षा की जाए तो पूर्ण साम्य नही मिलता! जिस अन्तर से भक्ति के प्रकारों को उक्त ग्रन्थो मे प्रस्तुत किया गया है लगभग उसी अन्तर से उन्हे हिन्दी-भक्ति-काव्य मे रखा गया है। तुलसीदास अध्यात्म रामायण की ओर झुके रहे हैं और केशवदास, परमानददास आदि भागवत का दृढता से पक्ष ग्रहण किये रहे हैं।

भागवत[1] मे भक्ति के नौ भेद ये माने गये है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। विज्ञान गीता[2] मे केशव ने इन्ही नौ भेदो का वर्णन किया है। यही पर केशव ने भक्ति से कुछ साहित्य की ओर भी प्रगति दिखलाई है। उन्होने भक्ति को नवरस-मिश्रित प्रमाणित करने की चेष्टा की है तथा श्रवण को अद्भुत से, स्मरण को करुण से, दास्य को जुगुप्सा मे, पाद-सेवन को भयानक से, वंदन को वीर से और अर्चन को शृंगार से, सख्य को हास्य से, कीर्तन को रौद्र से और आत्म-निवेदन को शान्त से सबधित किया है। परमानंददास'[3] भी भक्ति के ये ही नौ प्रकार स्वीकार किये हैं। उन्होने अपने एक पद मे उक्त नौ भेदो को उदाहरणो द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—"नवधा भक्ति योगादि सबसे अच्छी है। जिस-जिसने इस (भक्ति) मार्ग को पकडा है, वह अनन्य भाव से इस पर चलता रहा है। श्रवण से राजर्षि परीक्षित का उद्धार हो गया। कीर्तन से शुकदेवजी कृतकृत्य हो गये। स्मरण ने प्रह्लाद को निर्भय कर दिया। कमला ने पाद-सेवन से, पृथु ने अर्चन से, अक्रूर ने वंदन से, हनुमान ने दास्य से और अर्जुन ने आत्म-समर्पण-द्वारा हरि को अपने पास बुला लिया।"

तुलसीदास ने भक्ति के नौ प्रकारो को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"पहली भक्ति सतो की संगति करना है। भगवत्कथा के प्रसगो में प्रीति रखना दूसरी भक्ति है। निरभिमान होकर गुरु के चरण कमलो की सेवा करना तीसरी और निष्कपट भाव से भगवद्गुणों का गान करना चौथी भक्ति है। दृढ विश्वास के साथ मेरे मंत्र का जप करना पांचवी भक्ति है जिसका वर्णन वेद[4] मे भी आया है। छठी भक्ति है दम (इन्द्रिय-निग्रह करना); शील, विरति और सदा-

---

१. भागवत ७. ५. २३: श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

२. देखिये, वि०, गी०, पृ० १३५—३६: छंद १७२—१७४

३. देखिये, प० पदा० (परमानददास) पृ० ६६, पद ३०

४. संभवतः अनेक बार 'वेद' शब्द से तुलसीदासजी का अभिप्राय 'गीता' या 'भागवत' से भी रहा है।

वस्तु नहीं है, हृदय में होना चाहिए। "पढ़ाने वाले के साथ-साथ तोता भी हरि-नाम बोलता है, किन्तु वह नाम के वैभव को नहीं जानता। और यदि वह कभी उड़ कर वन में पहुँच जाए तो नाम का कभी स्मरण भी नहीं करेगा।"[१] कबीरकहते हैं कि "राम-नाम जपने वाले को भी काल घसीटे ले जा रहा है।"[२] यदि केवल राम में शक्ति होती तो मृत्यु का इतना दुस्साहस नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध है कि निर्गुण-मत में नाम-स्मरण का मूल प्रेम माना गया है। प्रेम या भाव के बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। तुलसीदास को यह बात मान्य नहीं है। भागवत[३] के स्वर में वे कहते हैं कि "नाम सब प्रकार से सर्वत्र कल्याण करने वाला है, चाहे उसे कोई भाव से ले या कुभाव से, क्रोध में ले अथवा आलस्य में।"[४]

अस्तु,नाम-स्मरण के संबंध में निर्गुण और सगुण कवियों का कुछ भी सिद्धान्त हो, नाम की महिमा का गान दोनों ने एक स्वर से किया है। नाम के संबंध से भक्त कवियों के दो
ह दीख पड़ते हैं। 'राम-भक्त' और 'कृष्ण-भक्त'। सगुण मत की रामाश्रयी शाखा के कवि
निर्गुण कवि 'रामना ... भक्त है और कृष्णाश्रयी शाखा के कवि 'कृष्णनाम' के भक्त
ई गहरी अन्तर-रेखा नहीं खींची जा सकती। 'रामनाम' के
ा आदि नामों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार सूरदास आदि
प्रयोग खुल कर किया है। गिरिधर-गोपाल का इष्ट रखने
ोर कृष्ण में कोई अन्तर नहीं समझती।
नन्त नाम हो सकते हैं। विष्णु सहस्र-नाम इसका प्रमाण
वे लोगों को 'रा' का ...

संभवत: सन्त कवियों के भक्ति-निरूपण में 'कथा-रति' के सिवा तुलसीदास की नवधा भक्ति के सब उपकरण मिल सकते हैं। यद्यपि नारद, अम्बरीष आदि भक्तों की कथाओं की ओर संकेत करके कबीर आदि ने उक्त अभाव की किसी अंश तक पूर्ति की है, पर सिद्धान्तरूप में वे इन कथाओं में विश्वास नहीं रखते। वे प्रेम-मार्ग के पथिक हैं। उन्होंने केवल 'प्रेम भगति' का पल्ला पकड़ रक्खा है। इसी को वे 'नारदी भगति'[1] कहते हैं और इसी को 'भाव भगति'[2] आदि अन्य नामों से भी पुकारते हैं। भक्ति के भेदों की ओर उन लोगों की रुचि कहीं स्पष्टत: व्यक्त नहीं होती।

भक्ति में नाम की महिमा

नाम की महिमा सब धर्मों में स्वीकार की गई है। हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदायों में तो इसकी और भी अधिक मान्यता है। नाम के हाथ में बड़ी शक्ति मानी जाती है। ऐसा कौन-सा संकट है जो नाम से न कट सकता हो? इसमें भवोच्छेदन तक की अमोघ शक्ति बतलाई जाती है। इसकी शक्ति प्रमाणित करने के लिए भक्ति-साहित्य से 'अजामिल' जैसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाम का गौरव बहुत प्राचीन दीख पड़ता है। मैं समझता हूँ सनातन धर्म के प्रभातकाल में ही प्रणव ने 'नाम' के नाम पर अपना झंडा फहरा दिया था। समय-समय पर जैसी-जैसी वायु की प्रेरणा हुई उसका रुख भी (विष्णु, कृष्ण, राम आदि नामों के रूप में) बदलता रहा। नाम का विकास-काल संभवत: 'विष्णु-सहस्रनाम' के रचनाकाल के आस-पास आता है और उत्तरकालीन वैष्णव-साहित्य में इसका महत्त्व बढ़ता ही चला जाता है। हिन्दी के भक्ति साहित्य पर 'नाम'-सम्बंधी प्रभाव डालने में संस्कृत-साहित्य के साथ-साथ परम्परा का भी हाथ रहा है।

हिंदी के निर्गुण कवियों में 'नाम' को सगुण कवियों से कम गौरव नहीं मिला है, परन्तु दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। चाहे जिस पवित्र समझे जाने वाले शब्द को तोते की तरह रट डालने को निर्गुण कवि 'नाम सुमिरन' नहीं मानते। वे ऐसे नामस्मरण को हृदय से घृणा करते प्रतीत होते हैं। उनके मतानुसार वास्तविक शक्ति भाव में है, नाम में नहीं। नाम तो भाव का बाह्य संकेत-मात्र है। उन पंडितों के सम्बन्ध में जो नाम में ही शक्ति बतलाते हैं, कबीर कहते हैं—"पंडित मिथ्या बकते हैं। यदि राम कहने मात्र से जगत् को मुक्ति मिल जाए तो खाँड कहने से मुख भी मीठा हो जाना चाहिए। यदि पावक के कहने से पाँव जल जाए अथवा जल कहने से तृष्णा शान्त हो जाए और भोजन कहने से भूख का निवारण हो जाए तो मुक्ति भी सब किसी को मिल जाए।"[3] इससे स्पष्ट है कि नाम-स्मरण ओठों से करने की

१. देखिये, क० ग्रं०, 'भगति नारदीमगन सरीरा.' पृ० १८३. २७८
२. देखिये, क० ग्रं०, पृ० २४४ "भाव भगति विश्वास बिन, कटै न संसै सूल"।
३. पंडित बाद बदते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै, खांड कह्या मुख मीठा।
पावक कह्या पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्या भूख जे भाजै, तो सब कोई तिरि जाई।

क० ग्रं०, पृ० १०१, ४०

वस्तु नहीं है, हृदय से होना चाहिए। "पढ़ाने वाले के साथ-साथ तोता भी हरि-नाम बोलता है, किन्तु वह नाम के वैभव को नहीं जानता। और यदि वह कभी उड़कर वन में पहुँच जाए तो नाम का कभी स्मरण भी नहीं करेगा।"[1] कबीरकहते हैं कि "राम-नाम जपने वाले को भी काल घसीटे ले जा रहा है।"[2] यदि केवल राम में शक्ति होती तो मृत्यु का इतना दुस्साहस नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध है कि निर्गुण-मत में नाम-स्मरण का मूल प्रेम माना गया है। प्रेम या भाव के बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। तुलसीदास को यह बात मान्य नहीं है। भागवत[3] के स्वर में वे कहते हैं कि "नाम सब प्रकार से सर्वत्र कल्याण करने वाला है, चाहे उसे कोई भाव से ले या कुभाव से, क्रोध में ले अथवा आलस्य में।"[4]

अस्तु,नाम-स्मरण के संबंध में निर्गुण और सगुण कवियों का कुछ भी सिद्धान्त हो, नाम की महिमा का गान दोनों ने एक स्वर से किया है। नाम के संबंध से भक्त कवियों के दो पक्ष दीख पड़ते हैं। 'राम-भक्त' और 'कृष्ण-भक्त'। सगुण मत की रामाश्रयी शाखा के कवि तथा निर्गुण कवि 'रामनाम' के भक्त हैं और कृष्णाश्रयी शाखा के कवि 'कृष्णनाम' के भक्त हैं, किन्तु इन दोनों के बीच में कोई गहरी अन्तर-रेखा नहीं खींची जा सकती। 'रामनाम' के भक्तों ने स्वतन्त्रता से हरि, वासुदेव आदि नामों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार सूरदास आदि कृष्णनाम के भक्तों ने रामनाम का प्रयोग खुल कर किया है। गिरिधर-गोपाल का इष्ट रखने वाली मीराँ स्मरण के समय राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं समझती।

उस असीम परमात्मा के अनन्त नाम हो सकते हैं। विष्णु सहस्र-नाम इसका प्रमाण है, किन्तु कबीर राम[5] के पक्ष में हैं। वे लोगों को 'रा' का टोप और 'म' का कवच बनाने[6] का उपदेश देकर परमार्थ की रक्षा का साधन बतलाते हैं। कबीर के पीछे तुलसी साहिब और शिवदयाल को छोड़कर, लगभग सभी निर्गुणियों ने अभ्यास के लिए रामनाम को ही स्वीकार किया है[7]।

१. नर के साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में बहुरि न सुरतै आनैं।
क० ग्रं, पृ० १०१.४०

२. रामहि राम जपंतडां, काल घसीठ्या जाइ।
क० ग्रं०, पृ० ३७.१८

३. भाग० १२.२२.४६ तथा ६.२.१४

४. भाय कुभाय अनख आलस हूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।। रा० च० मा०, पृ० ३५,

५. "ररा ममां दाई आखिर तारा।
कहैं कबीर तिहूँ लोक पियारा।। देखिये, क० ग्रं०, पृ० १८३:

६. 'ररा करि टोप ममां करि बखतर' क०, ग्रं०, पृ० २०६.३५०

७. देखिए, पी० डी० बड़थ्वाल, नि० स्कू० आफ हिं० पो०, पृ० १२४

संस्कृत-भक्ति-साहित्य में नाम को शक्ति का आकर माना गया है। भागवत में बताया गया है कि 'भवजाल में भटकता हुआ जीव भगवान् के पावन नाम के स्मरण से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है[१]।" विष्णुपुराण में "श्रीकृष्ण-स्मरण को तपस्यात्मक और कर्मात्मक सब प्रायश्चितों में सर्वश्रेष्ठ[२]" कहा गया है। अध्यात्म रामायण का कहना है कि "हरिनाम का स्मरण करके अज्ञजन भी हरि में लीन हो जाते हैं[३]।" जिसकी वाणी एक क्षण भी 'राम राम" ऐसा सुमधुर गान करती है वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यपी भी क्यों न हो, समस्त पापों से छूट जाता है[४]।" "भगवान् के नाम के सुनने या जपने से चाण्डाल भी पुण्यात्मा ब्राह्मणों के सामान पूज्य हो जाते हैं[५]।" रामनाम के प्रभाव से ही वाल्मीकि ने ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त कर लिया[६] और अजामिल जैसे अनेक पापी रामनाम लेकर पार हो गये।[७]

इसी प्रकार अन्य भक्ति-ग्रंथों में भी 'नाम'-महिमा का निरूपण मिलता है। सबके आधार पर नाम की महिमा को हम निम्न बिन्दुओं में रख सकते हैं—(१) नाम कर्मों का नाश करता है, (२) पापियों को पावन करता है, (३) भवसागर से तारता है, (४) सब पुण्यों की सम्मिलित शक्ति से इसकी शक्ति बड़ी है, और (५) यह अशरण का शरण है।

हिन्दी-भक्ति-काव्य इन्हीं बिन्दुओं को लेकर चला है। कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि "यदि नाम थोड़ा भी मुख पर आ जाए तो कोटिकर्मों का जाल एक क्षण-भर में नष्ट हो जाता है। 'राम' के बिना कहीं विश्राम नहीं मिलता, चाहे कोई अनेक युगों तक पुण्य क्यों न करता रहे।"[८] अन्यत्र कबीर[९] "नाम को भवसागर से तरने के लिए 'पोत' कहते है।" रैदास को विश्वास है कि "नाम के सहारे अनेक अधम जीवों का उद्धार हो चुका है और कितने ही पतित नाम के संसर्ग से पावन हो गये हैं।"[१०] नाम के मूल्य का अंकन

---

१. भा० १. १. १४

२ वि० पु० २.६.३७

३. अ० रा०, अर० कां०, ७ १६

४. अ० रा०, कि० कां०, १.८४

५. भा० ३.३.३७

६. देखिये, अ० रा०, अयो० का० ६.६४

७. देखिये, क० ग्रं०, पृ० १६६, पं १७.१८

८. क० ग्रं, पृ० ६ :

कोटि क्रम पेले पलक मे, जे रंचक आवे नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करे, नही राम बिन ठाउँ ॥

९. क० ग्रं०, पृ० २४१, पं० १७ :

सिरजनहार नाउँ धूं तेरा, भौ सागर तिरवे कूं भेरा।

१०. रै० बा०, पृ० २१, पं० १४-१५

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे,
पतित पावन भये परसि सारं ॥

करते हुए नानक कहते हैं—"जो नाम को सदैव हृदय में रखते हैं उनका श्रम अवश्य सफल होगा तथा उनके मुख उज्ज्वल होकर चमकेंगे ।"[१]

सूरदास भगवान् के पावन[२] नाम में 'अशरण को शरण देने की एवं अधम का उद्धार करने की शक्ति बतलाते हैं ।[३] उन्हें ऐसे किसी प्राणी का ज्ञान नहीं जिसने एक वार भी नाम लिया हो किन्तु उसका उद्धार न हुआ हो ।[४] अतएव वे रामनाम को वड़ी शरण मानते हैं ।[५] गदाधर भट्ट "नाम के प्रताप को प्रबल पावक कहते हैं जिसमें महामहापापों तक के दाह की अमोघ शक्ति है ।"[६]

भागवत ने तार स्वर से घोषणा कर रखी है कि जब कलियुग में ध्यान, मखादि का नाम भी न होगा तब भगवन्नाम ही उनका काम सफलता से करता रहेगा ।[७] इसी को ध्यान में रख कर तुलसीदास कहते हैं—"जो गति कृतयुग में पूजा से, त्रेता में मख से और द्वापर में योग से मिलती हैं, वही कलियुग में नाम द्वारा मिल जाती है ।"[८] "यही वात केशव कहते हैं कि "जब सब वेद पुराण नष्ट हो जाएँगे (वेदाचार को लोग भूल जाएँगे), जप, तप, तीर्थादि भी मिट जाएँगे (इनमें भी लोगों की श्रद्धा न रहेगी), गो-ब्राह्मण की कोई चिन्ता न करेगा,

---

१. नानक : जपजी,, अन्तिम दोहा, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी
पोएट्री, पृ० १२३ पर उद्धृत

२. देखिये, सूरसागर : पृ० १५, पद ७२
"पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो ।"

३. देखिये, सूरसागर : पृ० १५, पद ६६
तुम कृपालु करुणानिधि केशव अधम उवारन नाउँ ।
× × ×
अशरण शरण नाम तुमरो हौं कामी कुटिल सुभाउँ ।

४. देखिये, सूरसागर, पृ०६, पद २७ :
द्विज पतित मतिहीन गनिका गुन लौलीन करत अघखीन पूतना प्रहारे ।
सकृत निज हरिनाम जिन लियो अवशि कर दूरि करि को को न तारे ।।

५. देखिये, सूरसागर, पृ० २३, पद १२० - 'वड़ी है रामनाम की ओट'

६. देखिये, व्रजमाधुरीसार, पृ० १३३ :
हेम हरन द्विज द्रोह मान मद, अरु पर गुरु दारागम ।
नाम प्रताप प्रवल पावक के, होत जु तात सलभ सम ।।

७. देखिये, भाग० १२.३.५२ :
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।।

८. रा० च० मा०, पृ० १०७७
कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि विषै, नाम ते पावहिं लोग ।।

उस समय कलियुग में केवल नाम उद्धार करता रहेगा।"[1] गदाधर भट्ट 'हरिनाम' को ऐसा मंत्र कहते हैं जिसके बिना कलिकाल रूपी कराल-व्याल की विष-ज्वाला से मुक्ति नहीं हो सकती।[2] इतना ही नहीं, राम-नाम महामंत्र है जिसका जप महेश नित्य करते रहते हैं और जिसका उपदेश काशी में मुक्ति का कारण बना रहता है।[3] नाम की महिमा गाते-गाते जब गोस्वामीजी को किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं हुआ तो वे यहाँ तक कह गए कि "नाम ब्रह्म और राम से भी बड़ा है।"[4]

राम के पूछने पर वाल्मीकि ऋषि ने जो उनके निवास योग्य स्थान बताया है वह भक्त का हृदय है। ऋषि के भक्तिपूर्ण उत्तर में भक्त के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं:—

भक्त के गुण

"जिनके श्रवण समुद्र के समान हैं और आपकी नाना कथाएँ उनमें सरिताओं के समान निरन्तर भरती रहती हैं, तो भी वे पूर्ण नहीं होते, जिन्होंने आपके दर्शनरूपी जलधर की अभिलाषा में अपने नेत्रों को चातक बना रखा है, जो अनेक नदियों, समुद्रों और भारी सरोवरों का निरादर करके आपके रूप-बिन्दु से ही सुखी रहते हैं, जिनकी जीभ रूपी मराली आपके यश- रूपी निर्मल मानसरोवर में से गुणगण-रूपी मुक्ताओं को चुनती रहती है, जिनकी नासिका आपके प्रसाद की शुचि एवं सुभग सुवास को नित्यप्रति आदरपूर्वक ग्रहण करती है, जो आपको भोग लगा कर भोजन करते हैं, आपको चढ़ा कर वस्त्र और भूषण धारण करते हैं, जो देवता, गुरु और ब्राह्मण को देखकर विनय और प्रेम से प्रणाम करते हैं, जो अपने हाथों से सदैव भगवच्चरणों की पूजा करते रहते हैं, जिन्हें राम के सिवा और किसी का भरोसा नहीं है, जिनके चरण चल कर रामतीर्थों में जाते हैं, जो आपके मंत्रराज (रामनाम) को नित्य जपते हैं, और परिवारसहित आपकी पूजा करते हैं, जो नाना प्रकार के तर्पण होमादि करते हैं,

---

१. रा०च०, २६ ८ :

जब सब बेद पुराण नसैहै, जप तप तीरथ हू मिटि जैहै।
द्विज सुरभी नहिं कोउ बिचारै, तब जग केवल नाम उधारै॥

तु० की० ना० पुराण, १.४१. ११५

२. अ० मा० सा०, पृ० ११३

इहि कलिकाल कराल व्याल विष ज्वाल विषम भोये हम।
बिनु इहि मंत्र गदाधर को क्यों, मिटि है मोह महातम॥

३. रा० च० मा०, पृ० २७ . महामंत्र जोइ जपत महेसू।
कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥

तु० की०, अ० रा०, यु० कां०, १५.६२

४. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३३ : 'ब्रह्म राम ते नामु बड़'

तु० की०, "राम त्वत्तोधिकं नाम"

विनयपत्रिका (स्तुति २२८) में वियोगी हरि द्वारा उद्धृत।

ब्राह्मणों को भोजन करा के बहुत सा दान देते हैं, जो आपसे भी अधिक अपने गुरु को मान कर बड़े सम्मान से उनकी सेवा करते हैं, जो इन सब कर्मों का यही फल मांगते हैं कि राम के चरणों में रति हो, जिनके मन में न काम है न क्रोध, न मद है न मान, न मोह है न लोभ न स्नेह है न द्रोह, न कपट है न दंभ और न क्षोभ है न माया, जो सबके प्रिय और हितकारी हैं, जिनको दुःख-सुख और निन्दा-स्तुति समान हैं, जो विचारपूर्वक सत्य और प्रिय वचन कहते हैं और सोते-जागते आपकी शरण में रहते हैं, जिनका आपके सिवा दूसरा आश्रय नहीं है, जो दूसरे की सम्पत्ति को देख कर प्रसन्न होते हैं और दूसरे की विपत्ति को देख कर भारी दुखी होते हैं और जिनको आप प्राणों के समान प्रिय हैं, जिनके आप ही स्वामी सखा, पिता, माता और गुरु हैं, जो सबके अवगुणों को छोड़ कर गुणों को ग्रहण करते हैं, जो ब्राह्मणों और गौओं के लिए संकट भी सह लेते हैं, जो नीति में निपुण हैं और जगत् में जिनकी मर्यादा है, जो आपके गुणों और अपने दोषों को समझते हैं जिन्हें सब प्रकार से आपमें विश्वास है, जो जाति-पाँति, धर्म, प्रशंसा, प्रियजन और सुखद सदन को भी त्याग कर आप ही में दत्त-चित्त रहते हैं, जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान है, जो सर्वत्र शर-चाप धर आप ही को देखते हैं, जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, जिनको आपसे सहज स्नेह है, उनके मन-मंदिर में आप निरन्तर निवास कीजिए।"[१] वे आपके सच्चे भक्त हैं। भक्तोचित गुणों की यह सूची तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण[२] के अनुकरण में तैयार की है। वाल्मीक ऋषि ने वहाँ भी ऐसी ही लम्बी-चौड़ी 'भक्ति-गुण-सूचनिका' भगवान् राम के सामने प्रस्तुत की है।

कबीर एक संक्षिप्त सूची में भक्तों के ऐसे ही गुणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं: 'राम का भक्त उसे समझना चाहिए जिसे आतुरता पीड़ित न करती हो, जो सत्य, संतोष और धैर्य से युक्त हो, जो काम, क्रोध, तृष्णादि से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक हरि-गुण-गान करता हो, जो पर-निन्दा और असत्य से दूर रहता हो, जिसे काल का भय न रहा हो, जो भगवच्चरणों में चित्त रखता हो, जो समदृष्टि और शान्त हो और जिसे द्विविधा न सताती हो।"[३] गीता[४] में भगवान् कृष्ण ने भी भक्त के इन सब गुणों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

भक्त का एक मात्र परम गुण यह है कि वह भगवान् की सेवा के सिवा सालोक्यादि की भी इच्छा नहीं करता।[५] अतः भक्ति को ही सर्वस्व समझने वाले तुलसीदास "निर्माण पद का भी तिरस्कार कर देते हैं।"[६] वे केवल भगवान् की 'अनपावनी'[७] भक्ति माँगते हैं।

---

१. रा० च० मा, पृ० ४६५–४६८
२. देखिये, अ० रा०, अयो० कां०, ५.५४.६३
३. क० ग्रं०, पृ० २०६,३६३
४. देखिए, गीता, १२.३१.१६
५. देखिये, भा० ६.४.६७ तथा अ० रा०, उत्तर कां०, ७.६६
६. 'पद न चहों निर्वाण', रा० च० मा०
७. 'भक्ति देहु अनपावनी'

"जिस प्रकार एक ही जल भिन्न-भिन्न वर्णों से मिल कर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार एक ही भक्ति विभिन्न गुणाश्रय से भिन्न २ रूप की बन जाती है। तीन गुणों में से किसी एक की प्रधानता से भक्त सत्व-गुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है। पहला मुक्ति चाहता है, दूसरा सासारिक सुख चाहता है और धन परिवार आदि से अनुराग रखता है, और तीसरा ईर्ष्यादि दोषों से मुक्त नहीं हो पाता। वह चाहता है कि किसी प्रकार उसका वैरी मर जाए।" भक्तों की उक्त कोटियाँ गुणाश्रित है। चौथी कोटि के भक्त कामना से ऊपर उठ जाते हैं, उन्हे कुछ चाह नहीं रहती। सूरदास ऐसे भक्त को "सुधी-भक्त" कहते हैं। ऐसा भक्त मन, वाणी और कर्म से भगवान् की सेवा में ही लीन रहता है। सासारिक इच्छाओं का तो कहना ही क्या वह मुक्ति की इच्छा का भी तिरस्कार कर देता है। ऐसा भक्त भगवान् का अति प्रिय होता है। वे उससे क्षण मात्र के लिए अलग नहीं रहते। भगवान् उसके लिए और वह भगवन् के लिए होता है। उसके समान भगवान् का और कोई नहीं होता। सकाम भक्त जो कुछ मांगते हैं भगवान् उन्हे वही देते हैं, किन्तु अनन्य भक्त निष्काम होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, अतः भगवान् भी सकुचाते रहते हैं। उनका न कोई मित्र होता है और न शत्रु। हरि की माया जो सब को सन्तप्त रखती है, उन्हे व्याप्त नहीं होती।"[1]

भक्तों की कोटियाँ

भक्तों की उपर्युक्त कोटियों का वर्णन भागवत[2] और रामायण[3] दोनों मे मिलता है।

---

१. देखिये, सुखसागर, पृ० ५२–५३, पद १३

भक्ति एक पुनि बहु विधि होई, ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होई।
भक्त सात्विको चाहत मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुंब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहे या भाई। मन बैरी क्यों ही मर जाई।
सुधा भक्त मोहीं को चाहे। मुक्तिहि को नाहीं अवगाहे।
मन, क्रम, वच मम सेवा करै। मनते भव आशा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारो।
इक छन आते रहो न न्यारो।
ताको मैं हित मम हित सोई।
जाको मैं सब और न कोई।

तु० की०, गीता ६.३०

त्रिविध भक्त मेरे है जोई। जो माँगै तिहि देहुँ मैं सोई।
भक्त अनन्य कछू नहि मागे। ताते मोहि सकुच अति लागे।
ऐसो भक्त जानिहै जोई। जाके शत्रु मित्र नहि होई।
हरिमाया सब जग संतापे। ताको माया मोह न व्यापे।

२. देखिए, भाग० ३.२६.८–१३

३. देखिये, अ० रा०, उ० का०, ७.६०–६७

गीता[१] से प्रभावित होकर तुलसीदास[२] ने रामचरितमानस में भक्तों की कोटियाँ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की हैं। उन्होंने आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी के भेद से भक्तों के चार वर्ग तैयार किये हैं। आर्तजन दुःख से पीछा छुड़ाने के लिए भगवद्-भजन करते हैं, जिज्ञासु भगवद्ज्ञान की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते हैं, अर्थार्थी अणिमादिक सिद्धियाँ पाने के लोभ से भक्ति में प्रवेश करते हैं और ज्ञानी निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति करते हैं।

जिस प्रकार सत्संग भक्ति का साधक है उसी प्रकार असत्संग भक्ति का बाधक है। यह भक्ति का सबसे अधिक भयानक शत्रु है। भक्ति-ग्रंथों ने इसे भक्ति-पथ का भीषण अन्तराय निश्चित किया है। नारद-भक्ति-सूत्र[3] में दुःसंग को सर्वथा त्याज्य कहा गया है। नारदपांचरात्र का कहना है कि "अभक्तों से बातचीत करने, उनके शरीर को छूने, उनके साथ सोने या खाने से भी पाप लगता है। हमें उनसे उसी प्रकार दूर भागना चाहिए जैसे हम कराल विषधर से भागते हैं।[४]

भक्ति के अन्तराय

तुलसीदास को भी दुःसंगति से घृणा है। वे कहते हैं—विधाता दुष्ट की संगति न दे। इससे तो नरक का वास कहीं अच्छा है।"[५] कबीर का कहना है कि "कुसंगति में पड़कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों से मिलकर आकाश की बूँद अपनी निर्मलता खो बैठती है।"[६]

---

१. देखिये, गीता : ७.१६ :
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

२. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३० :
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहिं लउ लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए।
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहूं चतुर कहं नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।

३. देखिये, ना० भ० सू० ४३ : "दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः"

४. देखिये, ना० पां० रा० २.२.६

५. रा० च० मा० :
"दुष्ट संग जनि देहु विधाता, इहि ते भलो नरक को वासा।"

६. क० ग्रं०, पृ० ४७ :
"निरमल बूँद अकास की, पड़ि गई भोमि विकार।
मूल विनंठा मानवा, बिन संगति भठछार।"

भक्ति-मार्ग में दूसरी बड़ी बाधा पड़ती है मन में कामादि के निवास से।[१] वे चित्त को सदैव उसी प्रकार भयभीत करते रहते हैं जैसे बिल्ली चूहे को।"[२] कामादि की भूख कभी शांत नहीं होती। ये मनुष्य के भीषण शत्रु हैं।[३] जब तक इनसे पीछा नहीं छूटता, मनुष्य सत्पथ पर नहीं चल सकता। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं—"जब तक पंडित के मन में काम, क्रोध, मद, लोभ आदि बसे हुए है, तब तक वह मूर्ख के समान है।"[४] कामादि के वश में पड़कर वह भी उसी अधम मार्ग पर चलता है जिस पर मूर्ख चलता है। फिर अन्तर कहाँ से आया? कबीर ने उस वर्ग में से तीन (काम, क्रोध, लोभ) को अति घृणित समझा है। वे कहते हैं—"भगवान् उन्हीं को मिलता है जो काम, क्रोध और तृष्णा का परित्याग कर देते हैं।"[५] काम, क्रोध और लोभ को घातक समझ कर ही नारद[६] ने स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र सुनने के लिए मना किया है। ठीक है, काम, क्रोध, लोभ, मद आदि सभी प्रबल मोह की धाराएँ हैं, किन्तु उनमें अत्यन्त कठिन दुःख देने वाली मायारूपिणी स्त्री है।[७] स्त्री काम को जाग्रत करती है जो ज्ञान को ढक कर देहधारी को बेसुध कर देता है।[८] कामादि की प्रबल भयंकरता स्वयं सिद्ध है, पर दुःसंगति से ये शीघ्र भड़क उठते हैं।

भक्ति का अन्य शत्रु वाद-विवाद है। परमात्मा की प्राप्ति (अथवा उसका अनुभव) तर्क से नहीं होती! इसी कारण कठोपनिषद्[९] में तर्क का निषेध किया गया है। नारद[१०] भी अपने

---

१. देखिये, अ० रा०, यु० का०, ८.४५ :
"कामक्रोधादयस्तत्र बह्वः परिपन्थिनः"

२. अ० रा०, यु० का०, ८.४६:
"भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषकं यथा।"

३ देखिये, गीता, ३,३७

४. तु० दोहावली :
"काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान।
तब लगि पंडित मूरखा, तुलसी एक समान।"

५. क० ग्र०, पृ० १० :
"काम क्रोध, त्रिष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान्।"

६. देखिये, ना० भ० सू०, ६३
"स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।"

७. देखिये, रा० च० मा० पृ० ७०७ :
काम, क्रोध, लोभादि, मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥

८. देखिये, गीता ३. ४० :
"एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।"

९. क० उप० : १ २ ९ 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

१०. ना० भ० सू०, ७४ : "वादो नावलम्ब्यः"

भक्तिसूत्र में 'वाद' (तर्क) को वर्जनीय कहते हैं। कबीर ने 'वाद' को भक्ति का विरोधी समझकर ही उसे अपने आचरण से निकाल दिया है। वे कहते हैं:—"मैं वाद नहीं करता और न मैं वाद करना जानता ही हूँ, क्योंकि मैंने विद्या नहीं पढ़ी, मैं तो हरि के गुणों के गाने और सुनने में ही मस्त हूँ।"[1] तुलसीदासजी भगवत्तत्त्व जानने वाले विरक्त पुरुषों का एक बड़ा लक्षण यह बतलाते हैं कि वे सब तर्कों को छोड़ कर एक राम का ही भजन करते हैं।[2]

भक्ति की उत्कृष्टता

भक्ति मानव-जीवन का सर्वोत्तम मार्ग और सुनिश्चित लक्ष्य है। इसकी उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गई है। स्वयं फलस्वरूपा होने से इसकी अमोघता असंदिग्ध है, मार्गरूप में यह सबसे अधिक सरल है। अन्य मार्ग इतने लम्बे, टेढ़े और अरक्षित हैं कि कभी-कभी उन पर चलना असंभव हो जाता है और कभी-कभी वे इतने धुँधले और अनिश्चित होते हैं कि साधक भ्रम में पड़ जाता है, किन्तु भक्ति-मार्ग ऐसा दिव्य पथ है कि उसमें पद-पद पर साधक के सामने दिव्य लक्ष्य रहता है। यह मार्ग प्रेम का सरल पथ है जो कष्ट, दुःख, भय, विपत्ति आदि से रहित है। पथ-प्रदर्शक यहां है, रक्षक यहां है और यहां है समक्ष ही भक्त का लक्ष्य। फिर उसे किस बात की चिन्ता ? भय कैसा ? भक्त को यदि कुछ करना है तो वह है भगवान् के प्रति अपने अनन्य प्रेम की रक्षा। उमड़ते हुए प्रेम की लहरें हरि के चरण रसनिधि में मिलती रहें, बस इतना ही तो वह चाहता है और इसी में है उसका आनन्द। उन चरणों को छोड़कर प्रेम कहीं दूसरी जगह न जाए, बस यही तो अनन्यता है और "अनन्य भक्त को ही भगवान् के दर्शन होते हैं जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही हो सकते हैं।"[3] इससे भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट है नारद ने 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' से भक्ति की उत्कृष्टता की ही पुष्टि की है। भक्ति उत्कृष्ट इसलिए है कि इससे संसार-बंधन सहज ही में कट जाता है जब कि यज्ञ, दान, जप तथा इष्टापूर्त आदि कर्मों से वह टूटने के बजाय दृढ़ होता है।[4] सुग्रीव की इस अनुरागोक्ति (अध्यात्म रामायण में) के तीखेपन को मानो हल्का करते हुए तुलसीदास विनयपत्रिका में कहते हैं: "श्रुति ने शुद्धि के व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक साधन बतलाये हैं, पर राम के चरणों में अनुराग किये बिना मल का अतिनाश नहीं होता।"[5]

---

१. क० ग्रं०, पृ० १३५.१४७: विद्या पढ़ूँ न वाद नहिं जानूँ।
हरिगुन कथत-सुनत बौरानूँ।

२. देखिये, रा० च० मा० :
अस विचारि जे तज्ञ बिरागी।
रामहि भजहिं तरक सब त्यागी।

३. देखिये, गीता, ११.५३-५४

४. देखिये, अ० रा०, कि० कां, १८०-८१

५. देखिये, वि० प०, स्तुति ८२. पं० ७-८ :

तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु, मल अतिनास न पावै।

भक्ति के बिना जप, तप, आदि को व्यर्थ बताते हुए कबीर कहते हैं : "यदि भगवान् के प्रति प्रेम-भाव न हुआ तो तप, जप, व्रत, संयम, तीर्थ-स्नान आदि में भी क्या लाभ ?"[1]

स्वयं फलरूप और परमार्थ (highest value) होने से भक्ति के सिवा और कुछ वाञ्छनीय नहीं रहता। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य पुण्यों से प्राप्त हो सकता है उस सब को मेरा भक्त भक्ति द्वारा सहज ही (easliy) प्राप्त कर लेता है, पर विशेषता यह कि मेरा अनन्य भक्त तो कैवल्य मोक्ष तक को नहीं चाहता।"[2] भक्त का प्रेम भगवान् के चरणों के सिवा और कहीं नहीं जाता। भगवान् के सिवा उसे अन्य सब कुछ हेय एवं अवस्तु दीखता है। अतएव नंददास के भँवरगीत में गोपियाँ कहती हैं।—"हे उद्धव ! ब्रह्मज्योति क्या है ? ज्ञान किसे कहते हो ? रखो यह सब कुछ अपने पास। हमें कोई कुटिल मार्ग स्वीकार नहीं करना है। हमारा तो प्रेम का सीधा मार्ग है। नहीं जानते—श्याममुन्दर के नेत्र, वाणी, श्रुति, नासिका–उनके मोहनरूप ने हमें मुग्ध कर रखा है। मुरली की तो कहें क्या ? उसने प्रेम के जादू से हमें बेसुध बना दिया है।'[3] इसलिए 'हे उद्धव ! योग की शिक्षा उसे देना जो उसके उपयुक्त हो। हमारे पास (यदि कुछ कहना चाहते हो) तो प्रेमपूर्वक नंदनंदन का गुण गान करो। हमें और कुछ अच्छा नहीं लगता।'[4]

ज्ञान का लक्ष्य मुक्ति है जो साधक को आत्मज्ञान और आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति से मिलता है। जो भक्ति के बिना ब्रह्म का ध्यान करता है उसे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होता है। इससे साधक का निर्गुण ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है,

भक्ति और ज्ञान

किन्तु यह अवस्था बड़े प्रयास से प्राप्त होती है। फिर भी इसमें भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार नहीं होता, केवल उसकी निर्विशेष सत्ता का ज्ञान होता है। भक्ति में भगवान् का पूर्ण चित्र सामने आता है। भक्त निर्गुण को सगुण, अव्यक्त को व्यक्त रूप में देखकर भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार करता है।[5]

---

१. क० ग्रं०, पृ० १२६. १२१ :
क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जौपै जुगति न जानिये, भाव भगति भगवान ॥
तु० को०, अ० रा०, यु० को०, ७.६७: "भक्तिहीनैऱ्यर्त्किंचित्कृतं सर्वमसत्समम् ।"

२. देखिये, भाग०११.२०.३२-३४

३. नंददास, पृ० १२५ (भँवरगीत) : कौन ब्रह्म की जाति, ग्यान कासों कहौ ऊधो ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधो ॥
नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहनरूप दिखाइ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगोरी लाइ ॥

४. नंददास, पृ० २२६ (भँवरगीत)
ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधो जेहि पावो।
प्रेम सहित हम पास, नंदनंदन गुन गावो।

५. देखिये, सुशीलकुमार डे ' वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट—पृ० २७०-७१

भक्ति को ज्ञान से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए तुलसीदास ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

१. भक्त और ज्ञानी दोनों परमात्मा के पुत्र हैं, किन्तु भक्त शिशु के समान है और ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र के समान। जिस प्रकार माँ को अपने शिशु की अधिक चिन्ता होती है उसी प्रकार भगवान् को भक्त की अधिक चिन्ता होती है।[1]

२. ज्ञान का कहना कठिन है, समझना कठिन है और साधना भी कठिन है। यदि घुणाक्षरन्याय से वह कभी बन भी जाय तो फिर पीछे उसमें अनेक विघ्न होते हैं। ज्ञानमार्ग तलवार की धार है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। इस मार्ग के निर्विघ्न तै हो जाने पर कैवल्य परमपद मिलता है; परन्तु वही मुक्ति भक्ति से, बिना इच्छा किये भी, हठपूर्वक आती है।[2]

३. माया भक्ति से अलग रहती है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान ये सब पुरुष जाति के हैं और माया स्त्री जाति की है। अतः इन पर उसकी आसक्ति हो सकती है और ये भी उस पर मुग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कोई विरक्त और धीरबुद्धि ही स्त्री को त्याग सकता है। जो कामी विषयाधीन और राम के चरणों से विमुख हैं वे स्त्री के जाल में पड़ ही जाते हैं; किन्तु भक्ति स्त्री-जाति की है। स्त्री का स्त्री के रूप के प्रति मोह नहीं होता, इस कारण माया भक्ति की ओर आकृष्ट नहीं होती।[3]

---

१. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७०७ :

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी, बालक सुत सम दास अमानी।

× × ×

करउँ सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालकहि राख महतारी॥

२. देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२-११०३

३. देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०९७ :

ग्यान, बिराग, जोग बिग्याना, ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भांती, अबला अबल सहज जड़जाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहि, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषयबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥

× × ×

मोह न नारि-नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारिबर्ग जानहि सब कोऊ॥

८. भक्ति के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। भक्ति-हीन ज्ञान केवट-रहित नौका के समान है।[१] जो भक्ति के बिना निर्वाण-पद चाहता है वह मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी पूंछ और सींगरहित पशु के समान है।[२]

९. जो भक्ति को छोड कर केवल ज्ञान के लिए श्रम करते है वे मानो घर में कामधेनु को छोड कर आक के पेड से दूध लेने का प्रयास करते हैं।

१०. भक्ति की सहायता के बिना भव-सागर मे संतरण नही हो सकता—यह अटल सिद्धान्त है।[३] इसके विरुद्ध, भक्ति स्वतन्त्र है। उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु ज्ञान-विज्ञान भक्ति पर आश्रित हैं।[४]

इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा सिद्ध किया है। भक्ति को भगवान् का पत्नीत्व देने मे उन्होंने भागवत[५] मत प्राप्त कर लिया है। साथ ही भागवत ने उन्हें भक्ति को ज्ञान, वैराग्यादि से ऊँचा कहने की आज्ञा दे दी है क्योंकि भागवत ने स्वयं कहा है कि "ज्ञान, वैराग्य आदि भक्ति के पुत्र[६] हैं और मुक्ति उसकी दासी[७] है।"

इस प्रकार सब सगुण[८] भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा कहा है, परन्तु निर्गुण मत के सन्त, जिनका लक्ष्य मुक्ति है, ज्ञान-मार्ग के पथिक हैं। फिर भी वे ज्ञान-पथ पर भक्ति से अलग

---

१ रा० च० मा०, पृ० ५६७ .
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू।

२ रा० च० मा०, पृ० १०५२ :
रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पशु बिन पूंछ बिषान।

३ रा० च० मा०, पृ० १०९६ :
जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी।

४ रा० च० मा०, पृ० ११११ :
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल।

५ रा० च० मा०, पृ० ६९८ :
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिग्याना।

६ देखिये, भाग०-माहात्म्य, २.३.६

७ देखिये, भाग० माहात्म्य, २.११

८ देखिये, भाग० माहात्म्य, २.२१

९ सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीतों मे भी भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद दिया गया है। उद्धव पर गोपियों की विजय वस्तुतः 'निर्गुण' पर 'सगुण' मत की—ज्ञान पर भक्ति की विजय है : देखिये, सूरसागर, पृ० ७१३, पद ३१ : "आयौ हो निर्गुण उपदेशन भयौ सगुण को चेरो।"

होकर नहीं चलना चाहते। कभी-कभी तो वे भी भक्ति की वेदी पर ज्ञानादि के फल का बलिदान कर देते हैं।

भक्ति और योग

भक्ति-साहित्य में योग को भक्ति से छोटा सिद्ध करने के लिए बड़े प्रबल तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। चित्तवृत्ति-निरोध, जिसकी योग शिक्षा देता है, भक्ति से स्वतः ही हो जाता है। इसी प्रकार भक्ति में लीन होने पर विरक्ति भी अपने आप ही आ जाती है।

मायाशक्ति के प्रभाव से जीव स्वरूप को भूल कर इस नाम-रूपात्मक जगत् के जाल में फँस जाता है। फलतः वह अपनी शान्ति को खो बैठता है। अष्टांगयोग की शिक्षा का लक्ष्य मन को अहंकार से मुक्त करके और निश्चल बना कर उसे असम्प्रज्ञात समाधि में प्रलीन कर देना है, जहाँ जीव माया से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता की अनुभूति दिव्य चेतना (Divine Consciousness) के तात्त्विक परमाणु के रूप मे (ब्रह्म के साथ ऐक्य में नहीं) करता है इसलिए योगानुभूति ज्ञानानुभूति से उच्चतर होती हैं, क्योंकि वह निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति से आगे सविशेष परमात्मा की ओर भी होती है। अन्त में उसके द्वारा (यदि योग को भी भक्ति की सहायता प्राप्त है) भगवान् का दर्शन भी हो जाता है। अतः 'जहाँ योग भक्ति का साधन होता है,''[१] वहाँ उसका फल परमात्मा की सगुणमूर्ति का दर्शन होता है। इसलिए कुछ लोग उसे शान्ता भक्ति मान कर भक्ति का ही भेद बतलाते हैं। शुद्धा भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ भक्त अपना भावात्मक सम्बन्ध (यथा, दास्य, सख्य, वात्सल्य अथवा माधुर्य) स्थापित कर लेता है, उससे कहीं ऊँची होती है।

"भक्ति के साथ योग की तुलना करना कंचन के साथ काँच की तुलना करना है।[२]" भला भक्ति के बिना योग से भगवान् को किसने प्राप्त किया है'[३] जब कि योगी ज्योति का ध्यान करता है, भक्त के लोचन भगवान् की सौन्दर्य-सुधा का पान करते हैं।[४] "भक्त अपने हृदय से भगवान् के चरण कमलों को नहीं भुलाता, उनसे उसे बड़ी शीतलता मिलती है। योग के गम्भीर अंधकूपों को देखकर उसे डर लगता है।''[५] योग में लुभाने वाली कोई बात नहीं, जब कि भक्ति

१. देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २६ :
योग जुगति साधिकै जे तप योगिनि योग सिरायो।
ताहू को फल सगुण मूरति प्रगटहि दरशन पायो।

२. सूरसागर, पृ० ७१७, पद ४३ :
"योग प्रेम रस कथा कहो कंचन की कांचे।"

३. सूरसागर, पृ० ६६२, पद ८३ :

४. देखिये, नन्ददास का, भँवरगीत पृ० १२७ पं० ८६ :
जोगी जोतिहि भजे भक्त निज रूपहि जाने

५. सूरसागर, पृ० ६७३, पद ५० :
'हरिपद कमल बिसारत नाहिन शीतल उर संचरे।
योग गंभीर अंधकूपन सी ताहि जु देखि डरे।

मे आँख, कान नाक,—सबके लिए आकर्षण है।"[१] योग के अपार सिन्धु मे योगी को भगवान् कही नहीं मिल पाता किन्तु यशोदा की भक्ति के कारण वे स्वयं ऊखल से बँधने के लिए आते है।[२]

भक्ति और कर्म भक्त की आँखो मे कर्मों को भी तुच्छ देखा गया है। नन्ददास गोपियो से कहलाते है कि "हे उद्धव! प्रेम (भक्ति) मे कर्म को मिलाना ठीक वैसा ही है जैसा अमृत मे धूलि को मिलाना। सब कर्म तभी तक रहते है जब तक हृदय मे हरि की स्थिति नही होती। कर्म जीव के विमुख होकर विश्व-बन्धन का कारण बनते है।"[३] यह बात नहीं कि केवल पापो से ही जीव बन्धन में पडता है, पुण्यो से भी उसी प्रकार जीव का बन्धन बनता है। पाप और पुण्य दोनो ही बंधन है। पाप कर्म यदि लोहे की बेडी है तो पुण्य सोने की। पुण्य कर्मों मे बँध कर हम स्वर्ग मे पडते हैं और पापो मे बंध कर नरक मे। मत्र तो यह कि प्रेम के बिना विषयवासना के रोग से पीछा नही छूट सकता।[४] "पुण्य करने की दशा मे भी पापो का नाश नही होता, वरन् वे रक्तबीज की तरह बढते ही जाते है।"[५]

१. देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २८
"ए अलि कहा जोग में नीको।
तजि रसरीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुण फीको॥
देखनि सुनति नाहि कछु श्रवणनि ज्योति ज्योति करि धावनि।
सुन्दर श्याम कृपालु दयानिधि कैसे हो बिसरावति॥
सुनि रसाल मुरली की सुर ध्वनि सुर मुनि कौतुक भूले।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेली गोपिन के मन फूले॥

२. सूरसागर, पृ० ६७१ पद ३५:
"योगी सोग अपार सिंधु मे ढूंढे हू नहि पावत।
इहाँ हरि प्रगट प्रेम यसुमति के ऊखल आप बँधावत।

३. देखिये, नंददास (भँवरगीत), पृ० १२६ :
बिन... कर्म धर्म की बात, कर्म अधिकारी जानै।
"कर्म धर्म ... कर्म धूरि कौं आनि, प्रेम अमृत मैं सानै।
तब ही लौं सब कर्म है, जब लौं हरि उर नाहिं।
कर्मबंध सब विस्व के, जीव विमुख ह्वै जाहिं।

४. देखिये, नंददास (भँवरगीत), पृ० १२७ :
"कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी।
पाइन बंधन दोउ, कोउ मानो बहुतेरो।
ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरे, विषय वासना रोग।

५. देखिये, वि० प०, स्तुति १२८, पं० ३ :
"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रक्तबीज जिमि बाढत जाहीं।"

भगवान् कृष्ण ने, भागवत में कर्म के फेर में न पड़ कर भक्ति ही का आश्रय लेने का उपदेश दिया है। वे उद्धव से कहते हैं:—"कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदि को पुरुषार्थ बतलाते हैं, परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं वे उत्पत्ति और नाश वाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो तो, उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। इसलिए इन विभिन्न साधनों के फेर में न पड़ना चाहिए।"[1]

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि भक्ति अकर्मण्यता को जन्म देती है। भक्ति के आलोचक भक्तिद्वारा अकर्मण्यता के प्रचार को सिद्ध करने के लिए प्रायः मलूकदास की इस पंक्ति—"अजगर करे न चाकरी पंछी करैं न काम। दास मलूका कह गये सबके दाताराम" को प्रस्तुत किया करते हैं। वे इसका उलटा-सीधा अर्थ लगाकर भक्ति-सिद्धांतों के विषय में न केवल भ्रम फैलाते हैं, अपितु, अपना अज्ञान प्रगट करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'काम करो, पर फल में आसक्ति रख कर नहीं, फल को भगवान् के लिए अर्पण करके और उस पर पूरा भरोसा रख कर।' इसमें फलासक्ति के परिणाम से बचने का उपदेश है। यहाँ 'प्रपत्ति' और 'निष्कामता' का संदेश है, अकर्मण्यता का प्रचार नहीं। तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि "जप, तप, नियम, योग, स्वधर्म, वेदविहित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, धर्म, तीर्थ-स्नान इत्यादि का एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न हो।"[2] भक्ति-रहित कर्मों को वे मल से समता देते हैं। जिस प्रकार मल से मल नहीं धुलता उसी प्रकार भक्ति के बिना शुभ कर्म से भी अशुभ वासना का नाश नहीं होता।[3] अतएव जो कर्म किया जाए वह भक्ति के लिए किया जाए, किसी कामना से नहीं।

भक्त अकर्मण्य नहीं होता। वह कर्म करता है, किन्तु ऐसे जो भक्ति के साधक होते हैं, भक्ति के अंग होते हैं। यदि भक्ति का अर्थ अकर्मण्यता होता तो गोपियाँ श्याम के साथ-साथ न फिरतीं।[4] जगत् की दृष्टि से कोई भक्त को उन्मत्त भले ही कहदे, पर उसे अकर्मण्य नहीं

---

१. भा० ११.१४.१०.११

२. देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

जप तप नियम जोग निज धर्मा, स्रुतिसंभव नाना शुभ कर्मा।
ग्यान दया दम तीरथ-मज्जन, जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन।
आगम निगम पुराण अनेका, पढे सुनेकर फल प्रभु एका।
तव पद-पंकज प्रीति निरन्तर, सब साधन कर यह फल सुन्दर।

३. देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

छूटइ मल कि मलहिं के धोये, घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये।
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई, अभि-अन्तर-मल कबहुँ न जाई।

४. देखिये सूरसागर, पृ० ३०६, पद ७२ :

आरजपंथ चले कहा सरिहै श्यामहिं संग फिरौ री।

कहा जा सकता। जब संसार के लोग अपनी तथाकथित कर्मण्यता से अपने लिए जाल बुनते हैं, तब भक्त अपने प्रभु के साथ प्रेम-सरोवर में विहार करता है। जब दुनियादार कर्म के हथौड़े के नीचे सिसकता है, तब भक्त लीला-मानव की केलियों को देख-देखकर मुस्कराता है। वह रोता भी है, किन्तु सांसारिक व्यक्ति की तरह पीड़ा से नहीं, लोचनों में आनंदाश्रु भरकर। इतने पर भी भक्त को अकर्मण्य कहना उसके साथ अत्याचार करना है।

हरि के अनन्य भक्त निष्काम भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं। निष्काम भक्ति ही शुद्ध भक्ति होती है। वही भक्ति का सर्वोत्तम स्वरूप है। कामना के कारण मन 'एकाकार-वृत्ति' से खिंचकर चंचल बनता है और कामना से ही भक्ति की शुद्धता बिगड़ती है।

भक्ति और कामना

भगवान् का सच्चा (अनन्य) भक्त उसके साथ एकीभाव (सायुज्य मोक्ष) की भी इच्छा नहीं करता।[1] "वह परमात्मा की सेवा में अभिरत होने के कारण उसके दिये हुए कैवल्य मोक्ष को भी नहीं चाहता सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है। जो निष्काम एवं निरपेक्ष होता है उसीको परमात्मा की भक्ति प्राप्त होती है।"[2] यही कारण है कि तुलसीदास भक्ति में फल की इच्छा का तिरस्कार करते हैं। उन्हें चिन्ता नहीं कि उन्हें नरक में पड़ना पड़ता है या चारों फलरूपी शिशुओं को मृत्युरूपी डाकिनी खा जाती है, पर वे राम के स्नेह का कोई फल नहीं चाहते।[3] दादू प्रेमरस के प्याले पर इतने मुग्ध हो गये हैं कि वे उसके बदले में ऋद्धि-सिद्धि और मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं।"[4] कामना और भगवत्प्रेम का निर्वाह साथ-साथ नहीं हो सकता। जिनके मन में कामना बसी हुई है, वे भगवान् के अनन्य भक्त हो ही नहीं सकते। अतः तुलसीदास कहते हैं—"हरि के सच्चे सेवक तो वे हैं जिन्होंने कामना का निग्रह कर लिया है और भगवान् में विश्वास जमा लिया है।"[5] कबीर कहते हैं—"जिसकी भक्ति सकाम है उसकी सेवा निष्फल[6] है।" केशव निष्काम भक्ति का ही पक्ष लेते हैं।[7] सूरदास को एकमात्र भक्ति ही प्रिय है। वे मुक्ति को दूर ही से

१. देखिये, भाग० ३.२५.३४
२. भाग० ११.२०.३४
३. देखिये, दोहावली,

परौ नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु।
तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरिजाहु॥

४. देखिये, दा० बा०, पृ० ६६, पं० १०-११

प्रेम पियाला रामरस, हमको भावै येहि।
रिधि-सिधि मांगै मुकति फल, चाहै तिनको देहु॥

५. वि० प०, स्तुति १६८, पं० ८:

"प्रभु विस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे।"

६. क० ग्रं० पृ० १६

"जब लगि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।"

७. देखिये, रा० चं०, २६.२४

प्रणाम करते हैं।[1] वे तो कृष्ण की मधुर मुसकान पर करोड़ों मुक्तियों को निछावर करने के लिए तैयार हैं।"[2] रैदास कहते हैं—जिसके पास 'आशा' (desire) रहती है उसके पास हरि नहीं रहते। जब आशा मिट जाती है हरि पास आ जाते हैं।[3]

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है। भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है।[4] जो अपना सर्वस्व प्रभु पर निछावर कर सतत उनका प्रेम-पूर्वक स्मरण करने में अपने चित्त को लगा देता है, उसी को भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है। निषाद नीच जाति का था, शवरी गंवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ़ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपियाँ क्रियाहीन ही थीं; परन्तु इन सबने भक्ति द्वारा भगवान् के हृदय पर अधिकार कर लिया था। जिसके हृदय में भक्ति है, वही सर्वगुणसम्पन्न है, वही कुलीन है और ऊँचा है। भक्तिमार्ग पर चलने में सबका समान अधिकार है।[5] भक्त भगवान् की जाति का होता है, क्योंकि वह भगवान् का होता है।[6] भगवान् की अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल हैं।[7] इसलिए सूरदास कहते हैं कि 'प्रभु की महाभक्ति से कुजाति भी सुजाति हो जाते हैं।"[8]

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है

रामानुजाचार्य ने भी भक्तों के ऊपर से जाति-पाँति का प्रतिबन्ध उठा लिया है। उनका कहना है कि भक्ति जाति-भेद से ऊँची वस्तु है। उसमें सबका समान अधिकार है।[9] ठीक भी है, "अत्यन्ताभियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रमः[10]—जो अनन्य प्रेम में डूबे हुए हैं उनका वर्ण तो एक (प्रेम) ही है। मानस में राम ने शवरी को स्पष्ट कह दिया है कि वे केवल भक्ति का नाता (सम्बन्ध) मानते हैं।[11] जातिपाँति से उनका सम्बन्ध नहीं है। हरि-प्रेमियों का उत्साह

---

१. सूरसागर, पृ० ६६६, पद २४
२. देखिये, सूरसागर, पृ० ६७४, पद ५४
३. देखिये, रै० बा०, पृ० १३, पं० ६-८
४. देखिये, ना० भ० सू०, ७२
५. देखिये, शां० भ० सू०, ७८
६. देखिये, ना० भ०सू०, ७३
७. देखिये, भाग० ११.१४.२१
८. सू० सा०, पृ० ५, पद २१ :
"सूरदास प्रभु महाभक्ति ते जाति अजातिहि साजै"
तु० की०—गीता ९.३०-३१-
९. देखिये, श्रीभाष्य, १. ३. ३२-३६ तथा ३. ४. ३६
१०. देखिये, इंडियन फिलासफी (राधाकृष्णन) पृ० ७०६-'फुटनोट'
११. देखिये, रा० च० मा० पृ० ६६८:
"कह रघुपति सुनु भामिन बाता,
मानउँ एक भगति कर नाता।"

बढ़ाते हुए सूरदास कहते हैं: "हरि अपने भक्तों में ऊँच-नीच का भेद नहीं रखते। कोई भी उनका भजन कर सकता है। सुर, असुर-कोई भी हो, जो हरि भजन करता है वही उनका प्रिय होता है।"[१] मानस में भगवान् की वाणी से सूरदास की इस उक्ति की पुष्टि हो जाती है। वे कहते है—"भक्ति वाला अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राण-समान प्रिय है।"[२] जो भगवत्प्रिय है वह सर्व-प्रिय है। जिसमें भगवान् का प्रेम नहीं उसका उच्चकुल में जन्म होना किस काम का? इसलिए तुलसीदास कहते हैं। "जो भगवद्भजन नहीं करता वह मनुष्य यदि ऊँचे कुल में भी हुआ तो क्या हुआ? उससे तो दिन-रात राम-भक्ति में लीन श्वपच कहीं अच्छा है।"[३] व्यास जी श्वपच भक्त को करोड़ो कुलीनों और लाखों पण्डितों से ऊँचा कहते हैं।[४] इसी प्रकार कबीर भी वैष्णव चाण्डाल को अभक्त ब्राह्मण से कहीं ऊँचा मानते है।[५]

भक्ति में शरणागत भाव

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रपत्ति (शरणागत भाव) की ध्वनि उपनिषदों[६] में ही निकलने लगी थी। गीता के समय तक इसमें प्रौढ़ता आ गई और इसमें अनन्य प्रेम की अविकलागता सिद्ध होने लगी। गीता में इसकी शिक्षा इस प्रकार मिलने लगी—"सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक मत कर।"[७] पीछे भक्ति-क्षेत्र में प्रपत्ति-सिद्धांत का और भी अधिक विकास हुआ और पुराणों में शरणागतों की अनेक कथाएँ बन गईं और 'आत्मनिवेदन' नवधा भक्ति का

---

१. सूरसागर, पृ० ७३. पं० १०-११

"ऊँच-नीच हरि गिनत न दोई,
यह जिय जानि भजो सब कोई।
असुर होइ सुर भावै होई,
जो हरि भजै पियारो सोई।

२. रा० च० मा०, पृ० १०६०

"भगतिवत अति नीचउ प्रानी,
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।"

३. वैराग्य सदीपनी (तुलसीदास), दो० ३८

४. देखिये, व्यास' अ० मा० सा०, पृ० २१४:

व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस।
स्वपच भक्त की पानही, तुलै न तिनके सीस।

५. देखिये, क० ग्र०, पृ० ५३, प० १३-१४

सापत बामण मति मिलै, बैसनो मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिलै गोपाल।

६. देखिये, श्वे० उ० २. ७ तथा ६. २३

७. गीता, १८. ६६:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

उत्कृष्ट भेद बन गया । पुराणों की अनेक कथाओं में पिरोया हुआ वही प्रपत्ति-सिद्धान्त संस्कृत से हिन्दी में चला आया । हिन्दी के कुछ ग्रंथों[1] में उसका निरूपण और अधिक परिमार्जित हो गया ।

इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य के प्रकाशन ने हिन्दी-भक्ति-साहित्य में अधिक मान्यता प्राप्त करली । हम देखते हैं कि इष्ट का उत्कर्ष वर्णन करते समय भक्त उसकी शक्ति को देखता रहता है और उसका विश्वास हो जाता है कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेगा । 'वह विश्वंभर है, समान रूप से जगत् का भरण-पोषण करता है, फिर उसे अशन-वशन' की क्या चिन्ता है[2] ? उसे भगवान् का व्रत[3] याद रहता है और वह अपने भजन, आचरण आदि को प्रभु के चरणों में समर्पित करके उनके भरोसे पर निर्द्वन्द्व हो जाता है।[4] इसी समय प्रभु के व्रत का उनकी क्रियाओं में साक्षात्कार होने से उनका गोप्तृत्व भी उसके सामने आ जाता है और वह प्रेम के आवेश में पुकार उठता है । "हे हरि ! आप संकट के साथी हैं, दूसरों की पीड़ा का हरण करने वाले हैं । गज की पुकार सुनते ही आप आतुर होकर दौड़े और उसे ग्राह से छुड़ाया, परीक्षित की गर्भ में रक्षा की, वस्त्र बढ़ा कर सभा में द्रौपदी की लज्जा रखी और जरासंध का वध करके राजाओं को उसके बन्धन से मुक्त किया ।"[5]

---

१. देखिये, तुलसीदास की विनयपत्रिका तथा सूरदास के विनय के पद ।

२. सूरसागर, पृ० ४५, पद २०

तु० की०—महाभारत (वि० प० में उद्धृत) :

भोजने छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वंभरो देवो स भक्तं किमुपेक्षते ।।

३. सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मीति' च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । अ० रा०, यु० कां०, ३. १२

४. देखिये, व्यास-अ० मा० सा०, पृ० २१३ :

काहू के बल भजन को, काहू के आचार ।
व्यास भरोसे श्याम के, सोवत पाँव पसार ।

५. देखिये, सूरसागर, पृ० १२, पद ५३, पं० १-६

तुम हरि साँकरे के साथी ।
सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायो हाथी ।
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी वेद उपनिषद साखी ।
वसन बढ़ाय द्रुपद तनया के सभा माँझ पति राखी ।
राज रवनि गाई व्याकुल ह्वै दै दै सुत कौं धीरक ।
मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक ।

गोप्तृत्व के साथ-साथ भगवान् का औदार्य भी भक्त की आँखो मे छा जाता है। 'खोजने पर भी उसे कोई राम के सिवा उदार नही दीख पडता। भला, ऐसा कौन है जो बिना सेवा के ही दीन पर द्रवित हो जाए ? जिस गति को ज्ञानी मुनि योग-वैराग्य आदि यत्नो से भी नहीं पाते, उसी को वे गृद्ध और शबरी को देते समय हृदय मे अति तुच्छ समझते हैं। अपने दस सिरो का समर्पण करके रावण ने जिस सम्पत्ति को शिव से प्राप्त किया था वही रघुनाथ ने विभीषण को बड़े संकोच मे दी।[१]

भक्त को अब अपने ढंग का जीवन नही बिताना है। उसे भगवान् के अस्तित्व मे रहना है। वह उन्हे अपना समर्पण करने जा रहा है। समर्पणीय वस्तु उनके अनुकूल होनी चाहिये इसलिए उसे सन्तो की सी रहन-सहन का ढंग और उन्हीं का सा स्वभाव प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है।[२]

'आनुकूल्य की सम्पत्ति' के साथ-साथ भक्त 'प्रातिकूल्य का वर्णन' भी करता जाता है जिस किसी कारण भगवत्प्राप्ति में बाधा पड़ती है, वह उस सब का परित्याग कर देता है। वह

---

१. देखिये, वि० प० स्तु १६२, पं० १-६:

ऐसो को उदार जग माही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाही।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही।

२. देखिये, वि० प०, स्तुति १७२ :

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौगो।
श्री रघुनाथ-कृपाल-कृपा ते संत सुभाव गहौगो।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सो कछु न चहौगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह-जनित, चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभक्ति लहौंगो।

अपने परम स्नेही को भी, जिसके 'राम' प्रिय नहीं हैं, करोड़ों वैरियों के समान छोड़ देता है।[1]

इस प्रकार भक्त भगवान् की ओर बढ़ता जाता है और गिड़गिड़ाता जाता है। वह अपने दोषों के भण्डार को भगवान् की कृपादृष्टि के नीचे खोल देता है।[2] अन्यत्र दृष्टि न डाल कर वह भगवान् के चरणों में ही गिर पड़ता है और विनय करता जाता है : "हे नाथ ! मैं कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? कौन इस दीन की सुनेगा ? जिसके लिए कहीं ठौर-ठिकाना नहीं, जो सब प्रकार निःसहाय है, तीनों लोक में उसकी गति एक आप ही हैं।"[3] यही है भक्ति में शरणागत भाव जिसमें भक्त का अहंकार इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य में गल कर विलीन हो जाता है और वह भगवान् के अस्तित्व में रहने लगता है।

---

१. देखिये, वि० प०, स्तु० १७४ :
"जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँडिये कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।"
तु० की०, भाग० ६.६.१८ तथा प्रह्लाद चरित्र (भाग० सप्तम स्कंध, अध्याय ४. ५, ६)

२. देखिये, सूरसागर पृ० १७, पद ८५, ६०

३. देखिये, वि० प०, स्तुति, १७६ :
"कहाँ जाउँ कासों कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की।

: ६ :

भक्ति-काव्य का दार्शनिक परिपार्श्व

(१५–१६वीं शती)

'भारतीय जन्म से ही दार्शनिक होते हैं', इस उक्ति में कोई सत्य अवश्य है। जबकि बाहर के लोग प्रायः शक्तिविषयक खोज को दृश्य तक ही सीमित रखते हैं, तब भारतीय दृश्य के पीछे अदृश्य में भी किसी व्यापक सत्ता का अस्तित्व खोज निकालते हैं। पाप-पुण्य के पीछे उन्हें सुख-दुःख ही नहीं, नरक और स्वर्ग भी दिखलाई देते हैं। वे अपनी चिन्तन-प्रतिभा से दृश्यमान नानात्व को एक अदृश्यमान सत्य में विलीन करके सर्वत्र उसी को देखने का अभ्यास भी करते हैं। जिस भव-जाल को वे बड़ा भारी बंधन समझते हैं, उसी के आगे ज्ञान-शिखर पर उन्हें मुक्ति-धाम दीखता है। भारतीय दर्शन का एक पहलू प्रेम से पृथक् मुक्ति को देखने की चेष्टा नहीं करता। इसलिए यह मानना ठीक ही है कि दर्शन भारतीय जीवन का अभिन्न अंग है। जब साधारण लोगों की बातचीत में दार्शनिक सिद्धान्तों के भग्नांश मिल सकते हैं तो हमारे भक्त कवियों की रचनाओं में उनका मिल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर जब निर्गुण कवि का ब्रह्म सुदर्शन चक्र लेकर अम्बरीष की रक्षा करता है अथवा सगुण कवि के राम विधि, हरि और शंभु तक को नाच नचाते हैं, तब कोई भी दार्शनिक यह कह सकता है कि इनमें कोई दार्शनिक 'वाद' नहीं है, केवल दो भक्त हृदयों की अपनी-अपनी भावुकता है। यह बात ठीक भी है। वास्तव में भक्त लोग दार्शनिक नहीं थे। कनक-कुण्डल के दृष्टान्त से कबीर को परिणामवादी अथवा 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' के कहने से तुलसीदास को विवर्तवादी कहना कहाँ तक न्यायसंगत होगा, इसका निर्णय कोई भी दार्शनिक इन दोनों कवियों की रचनाओं के गहन एवं विशद अध्ययन के बिना नहीं कर सकता। जब इनकी कृतियों में अन्य वादों को सिद्ध करने वाले दृष्टांत भी उपस्थित हैं तो इन्हें अनेक-मतवादी कहना भी अनुचित न होगा। सच तो यह है कि इन्होंने दार्शनिक उक्तियों को भक्ति के लिए अपनाया है, न कि दर्शन के लिए भक्ति को। जिस प्रकार तुलसी, सूर आदि सगुण भक्तों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वे दार्शनिक नहीं थे, उसी प्रकार कबीर आदि निर्गुण भक्तों के लिए भी यह कहना उचित ही होगा। रामचन्द्र शुक्ल ने तो कबीर को दार्शनिक माना ही नहीं है और मान्यता ठीक भी है। कबीर भी सूर और तुलसी की भाँति भक्त थे। भक्ति की जो भूमिकाएँ तुलसीदास और सूरदास की रचनाओं में चित्रित की गई हैं वही कबीर की वाणी में भी। कबीर के निर्गुण राम का आकार-प्रकार न होते हुए भी

वही उनका एकमात्र प्रिय है और उनके प्रति कबीर का प्रगाढ़ आकर्षण है। निर्गुण भक्त हों चाहे सगुण, हैं वे वैष्णव भक्त ही! उन सबके आराध्य राम और कृष्ण हैं। भक्ति के अनुरागमय वातावरण में भी इनकी रचनाओं में दार्शनिक ज्योति का साक्षात्कार हो जाता है।

सामान्यतया निर्गुण और सगुण कवियों पर वेदान्त की शाखा-प्रशाखाओं का प्रभाव है। कहीं-कहीं सांख्य और योग की झलकियाँ भी दृष्टिपथ में आ जाती है। कबीर की योगोक्तियों पर हठयोग का प्रभाव है। कबीर की दार्शनिक पद्धति का अनुकरण परवर्ती सन्तों की वाणियों में भी देख सकते हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि कबीर की दर्शन-पद्धति सन्त-मत का आदर्श बन गई थी। भक्ति की जो धारा रामानुज ने बहाई थी वह रामानन्द और वल्लभाचार्य के सम्पर्क से रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी धाराओं में बहती रही। सन्त-भक्ति-धारा में भक्ति के आलंबन का कोई रूप—आकार-प्रकार न होते हुए भी भक्ति का ढाँचा वही था जो सूर और तुलसी की भक्ति में मिलता है। यद्यपि कबीर आदि संतों ने आराध्य का कोई रूप अंगीकार नहीं किया, किन्तु उसकी लीलाओं के इंगित से 'सगुणता' का वातावरण अवश्य बन जाता है। तब 'ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा' जैसी उक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कबीर आदि निर्गुण कवि और सूर आदि सगुण कवि अपने मूल में, भाव के वातावरण में, भक्त थे; किन्तु उनकी भक्ति की भूमिका में दर्शन की ज्योति भी दिखलाई दे जाती है। संस्कारवश वह ज्योति स्फुरित हो जाती है, उसके स्फुरण में प्रयत्नों का योग प्रतीत नहीं होता, अन्यथा उनकी वाणी में भिन्न-भिन्न मत न मिलते। दर्शन की प्रमुख समस्या सत्य की 'अवगति' रही है।

दार्शनिकों के लिए सत्य एक प्राचीन समस्या है। अनेक मनस्वियों ने उसे अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। सत्य क्या है? इसके संबंध में भारतीय खोज केवल 'नेति-नेति' पर ही न रुक कर आज तक चली आ रही है। वस्तुओं से असन्तोष और अनन्यमनस्कता

सत्य

की दशा में यह प्रश्न सामने आया कि 'हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं, कहाँ रहते हैं, कहाँ जाते हैं, दुःख-सुख को किसके आदेश और बल से सहते हैं? काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा अथवा तत्त्व (elements) कारण माने जा सकते हैं, अथवा परम चेतन शक्ति कोई इनसे भिन्न शक्ति है, जिसे कोई आत्मा, कोई परमात्मा, कोई पुरुष एवं कोई अन्य नाम से अभिहित करता है। समस्या इतनी ही नहीं रही। कारण और कार्य रूप के संबंध की समस्या भी उठी। नास्तिकों ने किसी अदृश्य सत्ता—ईश्वर को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने सत्य को केवल वस्तुपरक माना, पर आस्तिक मनस्वियों ने उसे वस्तु के पीछे आत्मा के रूप में पाया। इसका प्रमाण केनोपनिषद् में शिष्य के प्रश्न में इस प्रकार मिलता है—"यह मन किसकी इच्छा से प्रेरित होकर अपने विषय में लगता है? प्रथम प्राण किसकी प्रेरणा से चलता है? हम सब प्राणी किसकी इच्छा से यह वाणी बोलते हैं? और कौन देव आँख तथा कान को प्रेरित करता है?"[1]

१. के० उप० १—१

जगत् के अधिकाश दार्शनिको ने विषय-ज्ञान को अनिर्वचनीय नही माना है, जैसा कि साधारण बुद्धि वाले मानते हैं। उन्हे आश्चर्य हुआ कि इन्द्रिय-ज्ञान अन्तिम कैसे मान लिया जाये? क्या मानसिक शक्तियाँ जिनके द्वारा इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त होता है, आत्मनिर्भर हैं अथवा वे स्वयं किसी कारणरूपा शक्ति का कार्य हैं? हम भौतिक पदार्थों को, जो कार्य (effects) हैं, उनके कारण के समान सत्य कैसे मान सकते हैं? इन सबका कोई स्वनिर्भर परिणामी अवश्य होना चाहिये। वही मन का आश्रय हो सकता है।

ज्ञान, मन, इन्द्रिय और उनके विषय सान्त एवं सोपाधि हैं। आचरण (morality) के क्षेत्र मे हमने यह देखा है कि 'सान्त' से हमें वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता। जगत् के सुख भंगुर हैं, जरा-मरण मे बाधित होने वाले हैं। केवल अनन्त ही स्थायी सुख (आनन्द) दे सकता है। धर्म मे हम शाश्वत जीवन की पुकार करते हैं। इन सब बातों से हमें विश्वास करना पडता है कि कोई कालातीत चेतन-शक्ति अवश्य है। उपनिषदो के ऋषियों ने हमे केन्द्रीय सत्य तक ले जाने की चेष्टा की है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदो से जब यह प्रार्थना निकलती है—"मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ"[१], तो हमारा ध्यान 'सत्', 'ज्योति' और 'अमृत' के समाहार की ओर सहसा खिंच जाता है। इन तीनो शब्दो से अभिधेय कोई एक सत्ता है। इनसे सत्य का संकेत मिल जाता है। सत्य परिभाषा मे नही बँध सकता। कोई परिभाषा उसे समुचित रूप से व्यक्त नहीं कर सकती क्योकि वह अनित्य एवं परिमित वाणी की परिधि से बाहर है। फिर भी ऋषियों ने सत्य को परिभाषित करने के प्रयत्न तो किये ही हैं। माण्डूक्योपनिषद्[२] में 'सत्य' को अवि-कारशील कहा गया है। विष्णु पुराण[३] पृथ्वी की किसी वस्तु को अपरिवर्तनशील नहीं मानता। यह समग्र जगत् साद्यन्त है उसका प्रवाह नाशोन्मुख[४] है।

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का कुछ मुख में कुछ गोद॥

—कबीर

इसलिए कबीर भी जगत् को सत्य नहीं मानते। सत्य विकारी न होने से पार्थिव एवं स्थूल नहीं है। इसी स्वर मे कबीर ने कहा है—

उपजै बिनसै सत सो नाहीं।

अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है, वह विकारी है। विकार सत्य का धर्म नहीं। "सत्य वही है जो स्थिर रहता है, उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तु मिथ्या है।"[५]

'सत्य' का स्वभाव नित्यता है। वह जैसा था, वैसा ही है और वैसा ही रहेगा। रैदास[६] सत्य को अनिर्वचनीय, अखंड, अरूप, अवर्ण, देश-काल और धर्म की सीमा से बाहर तथा सुख-दुःख से अलिप्त मानते हैं।

---

१. बृह० उप १.३.२८
२. मा० उप० ४.७१ (कारिका)
३. वि.पु०—३.१२.४१
४. क० ग्रं० ७१.१
५. क० ग्रं०—२३२.२०
६. रै० बा० ७.७.१२ (पंक्ति)

इस रूपात्मक जगत् का आधार-तत्त्व सत्य ही है। वह सर्वत्र व्याप्त है। उसी की रूप-कान्ति सर्वत्र घोषित हो रही है।[१] जड़ माया के सत्यवत् भासित होने का कारण उसी की[२] सत्यता है—

जासु सत्यता तैं जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

अथवा

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

रा० च० मा०

सत्य में अनेकत्व की सिद्धि नहीं होती, वह एक है। इसकी पुष्टि विष्णुपुराण[३] 'एकं सदैकम्' से करता है।

छान्दोग्य उपनिषद्[४] में आत्मा को ही सत्य कहा गया है। जो एक और अद्वितीय है। कबीर नानक आदि सन्तों ने भी आत्मा को अद्वितीय सत्य माना है। 'आतम राम अवर नहिं दूजा' से कबीर इसी बात को समर्थित करते हैं। 'सोई पिंडे सोई ब्रह्मंडे'[५] कह कर नानक ने सत्य अथवा आत्मा की एकता को अक्षुण्ण रखा है। जिस आत्मा की अनुभूति नानक को पिंड में होती है उसी की अनुभूति वे ब्रह्मांड में भी करते हैं। यही अनुभूति कबीर[६] ने इस प्रकार व्यक्त की है—

आत्मा ही सत्य है

षठ दरसन कहियत हम भेषा, हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा।
हमहीं आप कबीर कहावा, हमहीं आपन आप लखावा॥

अथवा

हम सब मांहि सकल हम मांहीं, हम थैं और दूसरा नाहीं।
तीनि लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा॥

कबीर की भाँति नानक भी आत्मा और राम को एक ही मानते हैं और वे उसी को सब में व्याप्त देखते हुए कहते हैं—

आतम राम सर्वमहिं जानिया।

प्रा० सं०—पृ० १७७

नानक की यह उक्ति उपनिषदों से समर्थित है। वृहदारण्यक[७] तथा श्वेताश्वतर[८] उपनिषद् में यही आशय व्यक्त किया गया है।

---

१. दे०, रहीम—नगर-शोभा—२
२. तु० की० भाग० १०.१४.२२, २८
३. वि० पु० २.१२.४४
४. सत्सत्यं स आत्मा—छा० उप० ६.८.७, ६.२.१
५. नानक प्रा० सं०, ३६.१
६. क० ग्रं०—पृ० २०० तथा २०१
७. वृ० उप० ३.४.२
८. श्वे० उप० ६.११

जगत् के अधिकांश दार्शनिकों ने विषय-ज्ञान को अनिर्वचनीय नहीं माना है, जैसा कि साधारण बुद्धि वाले मानते हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि इन्द्रिय-ज्ञान अन्तिम कैसे मान लिया जाये? क्या मानसिक शक्तियाँ जिनके द्वारा इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त होता है, आत्मनिर्भर हैं अथवा वे स्वयं किसी कारणरूपा शक्ति का कार्य हैं? हम भौतिक पदार्थों को, जो कार्य (effects) हैं, उनके कारण के समान सत्य कैसे मान सकते हैं? इन सबका कोई स्वनिर्भर परिणामी अवश्य होना चाहिये। वही मन का आश्रय हो सकता है।

ज्ञान, मन, इन्द्रिय और उनके विषय सान्त एवं सोपाधि हैं। आचरण (morality) के क्षेत्र में हमने यह देखा है कि 'सान्त' में हमें वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता। जगत् के सुख भंगुर हैं, जरा-मरण से बाधित होने वाले हैं। केवल अनन्त ही स्थायी सुख (आनन्द) दे सकता है। धर्म में हम शाश्वत जीवन की पुकार करते हैं। इन सब बातों से हमें विश्वास करना पड़ता है कि कोई कालातीत चेतन-शक्ति अवश्य है। उपनिषदों के ऋषियों ने हमें केन्द्रीय सत्य तक ले जाने की चेष्टा की है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदों से जब यह प्रार्थना निकलती है—"मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ"[1], तो हमारा ध्यान 'सत्', 'ज्योति' और 'अमृत' के समाहार की ओर सहसा खिंच जाता है। इन तीनों शब्दों से अभिधेय कोई एक सत्ता है। इनमें सत्य का संकेत मिल जाता है। सत्य परिभाषा में नहीं बँध सकता। कोई परिभाषा उसे समुचित रूप से व्यक्त नहीं कर सकती क्योंकि वह अनित्य एवं परिमित वाणी की परिधि में बाहर है। फिर भी ऋषियों ने सत्य को परिभाषित करने के प्रयत्न तो किये ही हैं। माण्डूक्योपनिषद्[2] में 'सत्य' को अविकारशील कहा गया है। विष्णु पुराण[3] पृथ्वी की किसी वस्तु को अपरिवर्तनशील नहीं मानता। यह समग्र जगत् साद्यन्त है उसका प्रवाह नाशोन्मुख[4] है।

झूठे सुख कौं सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
खलक चबीणां काल का कुछ मुख में कुछ गोद॥

—कबीर

इसलिए कबीर भी जगत् को सत्य नहीं मानते। सत्य विकारी न होने से पार्थिव एवं स्थूल नहीं है। इसी स्वर में कबीर ने कहा है—

उपजै बिनसै सत सो नाहीं।

अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है, वह विकारी है। विकार सत्य का नहीं। "सत्य वही है जो स्थिर रहता है, उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तु मिथ्या है

'सत्य' का स्वभाव नित्यता है। वह जैसा था, वैसा ही है और वैसा ही

रैदास[6] सत्य को अनिर्वचनीय, अखंड, अरूप, अवर्ण, देश-काल और धर्म की सीर तथा सुख-दुःख से अलिप्त मानते हैं।

१. बृह० उप १.३.२८
२. मा० उप० ४.७१ (कारिका)
३. वि.पु० — ३.१२.४१
४. क० ग्रं० ७१.१
५. क० ग्रं०—२३२.२०
६. रै० वा० ७.७.१२ (पंक्ति)

जार्यौ जरै न काट्यौ सूकै,
उतपति प्रलै न आवै।

क० ग्रं० १३६.१५७

कबीर के इस स्वर में स्वर मिला कर नानक कहते हैं—"वह न पवन से सूख सकता है, अग्नि से जल सकता है, न पानी में डूब सकता है और न पकड़ा ही जा सकता है—

पवरगु न शोपे अगनि न जलावे।
पानी न डूबै गहिआ न जावै॥

नानक—प्रा० सं०, पृ० १०४, पं० २

वास्तव में यह कबीर आदि का स्वर नहीं है, वरन् इसके पीछे एक भारतीय विचार-परम्परा है जिसको गीता के इस श्लोक में देखा जा सकता है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।

गीता २.२३

नाशवान् शरीर है, आत्मा नहीं है। बोली के मरने पर भी बोलने वाला नहीं मरता। यह देह तो मिट्टी है। इसमें प्राण-संचार होता है, उससे आवाज होती है; किन्तु इस पवन-संचार का निर्देशक कौन है ? वस्तुतः वही बोलने वाला है। देह और पवन सब विलग हो जाते हैं। रूप एवं अहंकार सब नष्ट हो जाते हैं, किन्तु भीतर का 'बोलता पुरुष' कभी नहीं मरता। इसी आशय को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

देहि माँटी बोलै पवनां,
बूझि रे ग्यांनी मूवा स कौनां।
मुई सुरति बाद अहंकार,
हवन मूवा जो बोलणहार॥

क० ग्रं० १०२.४२

यह आना-जाना, जीना-मरना शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कह कर गीता ने आत्मा की अमरता ही पुष्ट की है। गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र त्याग कर नवीन धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी नव्य शरीर प्राप्त कर लेता है। जीर्णता एवं नव्यता शरीर के गुण हैं, शरीरी के नहीं। मानसकार ने इसी आशय को स्वीकार करते हुए लिखा है—

जोइ तन धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ

तुलसीदास के इस आशय की खोज गीता के इस श्लोक में की जा सकती है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

गीता—२.२२

जो आया है वह जायेगा, जो जन्मा है वह मरेगा। प्राणसंगली में नानक ने इसी विचार को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

जो जनमिउ सो जायसी, जीव दिश्रां माराइ ।

(प्रा० स०, पृ० २१६, पं १४)

सूरदास भी आने वाले को स्थिर नही मानते। जो कुछ दीख रहा है, वह अस्थिर है। जो आया है वह अवश्य जायेगा। इसी से वे कहते हैं—

सूरदास कछु थिर नहिं रहई,
जो आया सो जाता ॥[1]

सूरसागर, पृ० ३५, प १२
(निर्णयसागर प्रेस)

कबीर आत्मा की अद्भुत शक्ति से भी परिचित हैं। जो "बिना मुख खा सकता है, बिना पैरो के चल सकता है, बिना हाथो के कर सकता है, बिना जीभ के बोल सकता है, बिना कानो के सुन सकता है और बिना नेत्रो के देख सकता है', वह कितना अद्भुत एवं शक्तिमान् है। इस बात को कबीर ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नांहिन बूझै ।
बिन हाथनि पाइन बिन कानति, बिन लोचन जग सूझै ॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहीं छांड़ै; दह दिसिहीं फिर आवै ॥
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला ।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहां निरतत है गोपाला ॥

(क० ग्रं० १४०.१५६)

तुलसीदास ने मानस मे शिवजी के मुख से परमात्मा राम का ऐसा ही वर्णन कराया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल रस भोगी ।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा ।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥

१. तु० की. गीता—२.२७—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु.'

यह अद्‌भुत शक्ति भी एक दार्शनिक मान्यता है जो भाव को उद्वेलित करती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३.१६) कठोपनिषद् (१२.२१) तथा अध्यात्म रामायण—मु० कां० ३.२७–२८—में इस विचार-परम्परा की खोज की जा सकती है।

उपनिषदों ने आत्मा को अनिर्वचनीय होने के साथ साथ अज्ञेय भी माना है। उसे वाणी और मन दोनों ही प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए तैत्तिरीय उपनिषद् ने साफ-साफ कह दिया–

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

तै० उप०–२.४.१

इसी आशय को हिन्दी-कवियों ने अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है। तुलसीदास उस आत्मा (ब्रह्म) को मन और वाणी का विषय नहीं मानते और वे कह देते हैं—

मन समेत जेहि जान न बानी।

रा० च० मा० ३३१

सूरदास[1] भी उसे मन और वाणी के लिए अगम बतलाते हैं। दादू की बुद्धि का दैन्य इन शब्दों में व्यक्त हो जाता है—

तुम हौ तैसे तुमही जानौ, कहा बापुरी मति मेरी।
मन थै अगम दृष्टि अगोचर, मनसा की गमि नाहीं॥

दा० बा० प्र० १२६, पं० १४-१५

अर्थात् आप जैसे हैं उस भेद को आप ही जानते हैं। बेचारी मेरी यह बुद्धि उस रहस्य को समझने में असमर्थ है। मैं तो इतना भर कह सकता हूँ कि आप इन्द्रियों के अविषय तथा बुद्धि के क्षेत्र से परे हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि भक्त लोग परमात्मा को भाव से ही ग्रहण करते हैं। वे अपने सब भाव उसी को अर्पित कर देते हैं।

कोई तर्क और अनुमान आत्मा तक नहीं पहुँचा सकता। इसी भाव को व्यक्त करते हुए तुलसीदास ने मानस में कहा—

तरकि न सकहिं सकल अनुमानी

रा० च० मा०, पृ० ३३१

उपनिषदों ने भी आत्मा की प्राप्ति प्रवचन, मेधा और बहुत प्रकार के श्रवण से असंभव ही मानी है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् ने कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

मु० उप० ३-२-३

कबीर की मान्यता भी कुछ ऐसी ही है। वे पंडितों के तर्क-वितर्क में राम (आत्मा) के उपलाभ को नहीं देखते हैं और न वेद और कुरान में ही परमात्मा की स्थिति पाते हैं। इसीलिए वे कहते हैं—

१. देखिये सूरसागर (निर्णयसागर प्रेस) ...

"वेद कतेब ते रहहि निनारा"

क० ग्रं०पृ० २६६'११६

इसी आशय का उपदेश श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को दिया है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

गीता—२ ४५

अर्थात् हे अर्जुन। वेद त्रिगुणात्मक विषयों से संपृक्त हैं। तू वेदों के इन विषयों से अलिप्त रह। बहुत से लोग यह ढोंग रचते हैं कि उन्होंने परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, वे दंभी हैं। 'जो यह गीत गाता है कि वह आत्मा को जानता है, वह वस्तुतः उसे जानता ही नहीं है—

गाया तिनि पाया नहीं, अण गाया थै दूरि ।
जिनि गाया विसवास सूं तिन राम रह्या भरपूरि ॥

क० ग्रं० ५६.२१.

परमात्मा का लाभ केवल उसको होता है जिस पर उसका अनुग्रह होता है और उसे विश्वास से भजता है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है—

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन ।
जानहि भगत भगत-उर चन्दन ॥
सोइ जानइ जेहि देउ जनाई ।
जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई ॥

रा० च० मा०

उपनिषदों की यही घोषणा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

मु० उप०—३.२.३

वह आत्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप है। उसे चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है समग्र जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जहाँ भौतिक प्रकाश की कोई गति नहीं; वहाँ उस सच्चिदानन्द की गति है—

जहां ऊगे सूर न चन्दा ।
तहां देख्या एक अनन्दा ॥

क० ग्रं०९८.३१

आत्मा के दो रूपों की कल्पना

वैदिक काल से ही भारत में आत्मा के दो रूप माने जाते रहे हैं। व्यष्टिरूप और समष्टिरूप। व्यष्टिरूप में उसे जीवात्मा तथा समष्टिरूप में परमात्मा, विश्वात्मा, ब्रह्म आदि नामों से अभिहित किया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संबंध का निरूपण दर्शन-ग्रंथों का बड़ा रोचक प्रकरण रहा है। गीता में जीव को परमात्मा का अंश बतलाया है। अध्यात्म-रामायण ने भी इस संबंध की पुष्टि की है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान तथा

जीव को अल्पज्ञ और अल्पशक्ति कहा है किन्तु उसने दोनों को अजन्मा बतलाया है। "ईश्वर सब लोकों का धारण-पोषण करता है, वह सबका स्वामी और प्रेरक है और जीवात्मा इस जगत् के विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति (माया) के अधीन हो उसके मोहजाल में फंसा रहता है। जब कभी वह ईश्वर को जान लेता है तब वह सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है—

\+ \+ भरते विश्वमीशः
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

श्वेत० उप० १.८

तुलसीदास[1] ने भी जीव को ईश्वर का अंश बतलाया है। उपनिषद् के अनुरूप दोनों का भेद स्वीकार करते हुए वे कहते हैं—"एक राम ही सर्वज्ञ हैं जीव तो अल्पज्ञ ही है। यदि ईश्वर और जीव में एक-सा ज्ञान रहे तो दोनों में भेद ही क्यों हो? अभिमानी जीव माया के वश में है और गुणों की खान वह माया ईश्वराधीन है। जीव अनेक हैं और ईश्वर एक, जीव परवश है और ईश्वर स्ववश।"

ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर।
जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी।
परवस जीव, स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।

रा० च० मा० पृ० १०५१

परमात्मा और जीवात्मा का भेद असत् और अज्ञानकल्पित है। अज्ञान का नाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के भेद का अभाव सिद्ध होता है—

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसतं कः करिष्यति॥

वि० पु० ६.७.६.६

तुलसीदासजी ईश्वर और जीव के भेद को मिथ्या मानते है। यह भेद माया है, किन्तु हरिकृपा विना माया से मुक्ति नहीं मिलती और तब तक बना ही रहता है—

मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

रा० च० मा० पृ० १०५२
(का० ना० प्र० स०)

---

१. ईश्वर अंस जीव अविनासी।

रा० च० मा० उ० का०

ईश्वर के ज्ञान के बिना झूठ भी सत्य जैसा प्रतीत होता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि रज्जु के पहचाने बिना भुजंग की प्रतीति होती ही रहती है और उसके जानने पर जगत् का भ्रम बंधन उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे जगने पर स्वप्न का भ्रम—

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने ।
जिमि भुजग बिनु रजु पहिचानें।
जेहि जाने जग जाइ हेराई ।
जागे जथा सपन-भ्रम जाई ॥

रा० च० मा० ११४ १
(क० न० प्र० स०)

जीव औरब्रह्म का अभेद

उपनिषदों तथा परवर्ती वेदान्त ग्रन्थों में अनेक दृष्टान्तों द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐक्य अभेद स्वीकार किया गया है । उनदृष्टान्तों से 'अभेदसूचक' अनेक सिद्धान्त उठ खड़े हुए हैं जिनमें मूलत: कोई विशेष अन्तर नही दीख पडता उनमे एक सिद्धान्त 'अनवच्छेदवाद' (अभेदवाद) है और दूसरा 'आभासवाद' या 'प्रतिबिम्बवाद' है । सन्तकवियों ने जीव और ब्रह्म के ऐक्य का पक्ष लिया है । कहीं कहीं सगुणकवियों ने भी जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य (अभेद) मान लिया है, परन्तु उनका झुकाव प्राय: भेद-सिद्धान्त की ओर ही रहा है ।

अनवच्छेदवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार जीव को न तो ब्रह्म का अंश माना जाता है और न उसका रूपान्तर या विकार । शंकर 'नाकाशस्यादि' गौडपादीय कारिका पर भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि घटाकाश परमार्थाकाश का न तो विकार है जैसे कि रुचकादि आभूषण सुवर्ण के, तथा फेन बुदबुद और हिम जल के भेद हैं । और न अवयव ही है जैसे कि शाखादि वृक्ष के अवयव हैं । उसी प्रकार जीव परमात्मा का किसी अवस्था में विकार या अवयव नहीं है—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मन ; सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥

मां० उप० (गीता प्रेस) अद्वैत प्रकरण
कारिका ७ शांकरभाष्य

अत. भेद-दृष्टि मिथ्या है ।

जीवात्मा परमात्मा का विकार नहीं है क्यो कि उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म का चिन्मय स्वरूप निर्विकार है वह अद्वय, अव्यय, अक्षर और अनन्त है । ब्रह्म में किसी विकार को स्वीकार करने का अर्थ शुद्ध चित्स्वरूप में अनेकता तथा सभेदता को स्वीकार करना है । जो उचित नहीं है । अध्यात्म रामायण मे रावण को उसके स्वरूप का ज्ञान कराते हुए हनुमान जी कहते है- 'यह बिल्कुल सत्य है कि तुम्हारे आत्मस्वरूप में कोई विकार नहीं है क्यो कि अद्वितीय होने से उसमें विकार के लिए कोई अवकाश ही नही है । जिस प्रकार आकाश सर्वत्र होने पर भी

किसी पदार्थ के गुण दोष से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार तुम देह में रहते हुए भी विकारों से लिप्त नहीं होते।[1]

जीवात्मा और परमात्मा में अवयवावयवी संबंध के निषेध द्वारा भी अनवच्छेदवाद का समर्थन किया गया है। ब्रह्म के शुद्ध चित्स्वरूप में जो देश कालातीत है अनेकता अथवा अंशांशी भेद के लिए कोई अवकाश नहीं है। उपनिषद् का कहना है कि उस स्वरूप में अनेकता देखने वाला ही मृत्यु के भ्रम में भटकता रहता है।

शंकर ब्रह्मसूत्र २.३. ४२-४४ पर भाष्य लिखते हुए बादरायण के मत को (जीव ब्रह्म का अभिन्न अंग माना जा सकता है) इस प्रकार समझाते है : जिस प्रकार घटाकाश तत्वतः महाकाश के सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है। घट के आकार-प्रकार तथा जीव की उपाधियाँ केवल अस्थायी अवरोध है। जब तक इनका अस्तित्व रहता है तब तक जीवात्मा और घटाकाश अपने पारमार्थिक स्वरूप से भिन्न दीखते है, परन्तु इनसे कारण में न तो कोई वास्तविक विभाजन सम्पन्न होता है और न उसके स्वरूप में कोई विकार ही आता है।[2]

इस मत को प्रगट करते हुए कबीर कहते हैं—घड़े के भीतर भी जल है और बाहर भी। घड़े के रहने तक ही भीतर और बाहर के जल में अन्तर दीख पड़ता है। उसके फूटने पर जल जल में मिल जाता है और अन्तर विलीन होने से अभेद ही की सिद्धि होती है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में अभेद सिद्धि होता है। भेद केवल उपाधियों के संयोग से भासित होता है, तत्त्व दृष्टि से कोई भेद नहीं है—

पंच तत्त अविगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समानां, रेख रही नहीं आसा॥
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यहु तत कथौ गियानी॥

क० ग्रं०, पद ४४

सूरदास[3] ने भी एक पद में इसी अभेद को प्रतिपादित किया है।

उपाधि संयोग से जीव दशा को प्राप्त होकर आत्मतत्त्व में कोई विकार अथवा अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार अनेक वर्णों की गायों से एक ही दूध उपलब्ध होता है, उसी प्रकार अनेक रूपों में एक ही आत्मा व्याप्त है—

१. म० रा०—मु० कां० ४.१८
२. दे०, शंकरभाष्य : ब्र० सू० २.३. ४२-४४ तथा पंचदशी ६.२.३७
३. दे०, सूरसागर, पृ० ६६, पद ४ (निर्णयसागर प्रेस)

सोहं हंसा एक समान ।
काया के गुण आनहिं आन ॥
माटी एक सकल संसारा ।
बहुविधि भाँडे घड़ै कुँभारा ॥
पंच बरन दस दुहिये गाइ ।
एक दूध देखौ पतियाइ ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि ।
त्रिभवननाथ रह्या भरपूर ॥

प्रतिबिम्बवाद

ब्रह्मसूत्र (२.३.४६) मे एक भिन्न मत (कम से कम ऊपर से भिन्न दीखने वाला) प्रस्तुत किया गया है । वहाँ जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब—बुद्धि की सात्विक उपाधि में परम चिति का प्रतिबिम्ब या आभास माना गया है । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में भी मिलता है । हिन्दी साहित्य की भक्ति-शाखा में इस सिद्धान्त को पर्याप्त समर्थन मिला है । संतों और सगुणोपासकों ने ही नहीं, इसका समर्थन सूफी कवियों ने भी किया है । कबीर कहते हैं—

ज्यूं जल में प्रतिब्यंब त्यूं सकल रामहिं जाणीजै ।

क० ग्र० ५६.६

और नानक भी इस प्रतिबिंब को मानते हैं—

नानक एको रवि रहिआ अवरु न दूजा कोय ।
जलबिनु अपारु सुधोरु तई कीओ चरित अपार ॥

प्रा०. सं०, पृ० २०४

सूरदास ने अपना मत प्रतिबिंबवाद के पक्ष में इस प्रकार दिया है ।

चेतन घट घट है या भाई ।
ज्यों घट घट रवि प्रभा लखाई ॥

सूरसागर (निर्णयसागर प्रेस) पृ० ५३

ब्रह्म और जगत्

जगत् के सम्बन्ध मे जनमत कुछ भी हो उसकी सत्यता के संबंध में दार्शनिकों में तो प्रायः मतभेद ही रहा है । वेदान्त के मत से इस नानात्वमय जगत् का ब्रह्म से आविर्भाव हुआ है । हिन्दी के भक्ति-साहित्य में प्रायः यही मत अबाध गति से चला आया है । जगत् के आविर्भाव के संबंध में प्रश्न यह उठता है कि क्या वह परमात्मा का वास्तविक परिणाम (Real Transformation) है अथवा उसका केवल विवर्त (illusary projection) है—क्या स्रष्टा सृष्टि के रूप मे स्वयं परिणत हो जाता है अथवा शुद्ध, पूर्ण एवं अपरिवर्तनीय रूप में पृथक् रह कर इस असत् जगत् को उसी प्रकार प्रदर्शित करता रहता है जैसे जादूगर आकाश में अनेक असत् (मिथ्या) रूप प्रकट करता है, जो अज्ञ दर्शकों को धोखा देते हैं । प्रथम प्रश्न का उत्तर परिणामवाद मे और द्वितीय का विवर्तवाद में मिलता है । रामानुज, निम्बार्क, मध्व आदि भक्तों ने परिणामवाद का समर्थन किया है तथा शंकर और उनके अनुयायी अद्वैतियों ने विवर्तवाद का पक्ष लिया है ।

इसमें सन्देह नहीं कि परिणामवाद द्वारा स्रष्टा और सृष्टि के संबंध का व्यक्तीकरण बड़ी सरलता और स्वाभाविकता से हो जाता है! इस सिद्धान्त में नानात्वमय जगत् को परमात्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति माना गया है। जिस प्रकार आभूषणों में नामरूपात्मक भेद होते हुए भी स्वर्ण एक ही रहा है, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् के नानात्व में एक ही ब्रह्म व्याप्त है।

कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः
कनकभेदमपीष्यते यथैकम्।
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभि-
र्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैव ॥

विष्णुपुराण : ३. ७. १६

हिन्दी कवियों ने इस सिद्धान्त के अनुरूप अपने-अपने शब्दों में एक ही भाव व्यक्त किया है। अग्रदास का कहना है कि 'जगत् ईश्वर का ही रूप है':—

'जगत् ईश को रूप, वरण कहि कौन अधिक मति।'

रामध्यानमंजरी, छन्द ५७

सूरदास कहते हैं कि जिस प्रकार बुद्बुद का उपादान कारण जल है और उसी में वह लय भी हो जाता है, उसी प्रकार यह सब जगत् परमात्मा से उत्पन्न होता है और उसी में विलय भी हो जाता है—

ज्यों पानी में होत बुद्बुदा पुनि ता माहिं समाई।
त्योंही सब जग कुटुम्ब तुम ते पुनि तुम माहिं बिलाई॥

सूरसागर, पृ० ७६०, पं० ४-५

विद्यापति ने ब्रह्म और जगत् का संबंध 'सागर और लहर' के दृष्टान्त से व्यक्त किया है—

"तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत,
सागर लहरि समाना।"

—विद्यापति पदावली: पृष्ठ ३१५ पं : १८-१६

कबीर इस सम्बन्ध को "जल और हिम" के दृष्टान्त से अभिव्यक्त करते हैं—

'पाणी ही ते हिम भया,
हिम ह्वै गया बिलाइ।'

कबीर ग्रंथावली : १३-१७

अन्यत्र 'मिट्टी और घड़े' के दृष्टांत से भी वे यही भाव पुष्ट करते हैं—

माटी एक सकल संसारा,
बहु विधि भांडे घड़ै कुंभारा।

रैदास इसी संबंध को 'कनक अलंकार' और 'पाहन प्रतिमा' के दृष्टांत से समझाते हैं—

'अहै एक पै भ्रम से दूजो,
कनक अलंकृत जैसे ।'

—रैदास बानी, पृ० २६

विवर्तवाद के मानने वाले जगत् को ब्रह्म की ऐन्द्रजालिक शक्ति माया से उत्पन्न, असत् एव मिथ्यामात्र मानते हैं। ड्यूसेन अपने 'सिस्टम आफ वेदान्त' मे कुछ प्रचलित दृष्टातो द्वारा विवर्तवाद को समझाते हुए लिखते हैं—"यदि अज्ञानवश किसी वस्तु को विभक्त समझ लिया जाय तो वह विभक्त नही हो जाती। यदि सदोष दृष्टि के कारण दो चन्द्र दीख पड़ें तो चन्द्र का द्वित्व सिद्ध नही होता। यह नानानामरूपात्मक दृश्यमान जगत् जिसे न तो 'है' कह सकते हैं और न 'न—है' ही कह सकते हैं, अज्ञान पर आश्रित है। इससे परम सत्य की सत्ता मे कोई विकार या परिवर्तन नही होता जिस प्रकार सर्प की प्रतीति से रज्जु की सत्ता मे कोई विकार या परिवर्तन नही होता। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न मे नाना रूप उत्पन्न कर लेता है, किन्तु वह एक एव अद्वय ही रहता है, अथवा जिस प्रकार जादूगर अपने स्वभाव को बिना बदले हुए ही हाथी-घोड़े आदि दिखा देता है, उसी प्रकार सृष्टि का नानात्व ब्रह्म के एकत्व में निष्पन्न होता है, किन्तु उससे ब्रह्म की एकता बाधित नही होती।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि "मनुष्यों द्वारा जो कुछ सुना, देखा या स्मरण किया जाता है वह सब स्वप्न-मनोरथ के समान असत् ही है।"

तुलसीदास उक्त सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्म और जगत् का सबंध व्यक्त करते हुए कहते हैं—"उसके (परमात्मा के) ज्ञान के बिना झूठ भी सत्य प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि रज्जु के ज्ञान के बिना असत् भुजंग की प्रतीति होती है। उसका ज्ञान हो जाने पर जगत् उसी प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार जगने पर स्वप्न-भ्रम नहीं रहता।"

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने ।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें ॥
जेहि जाने जग जाइ हिराई ।
जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥

—रामचरितमानस, पृ० ११४

सूरदास इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं—"यह संसार स्वप्न के दृश्यो के समान है। जैसे नेत्र खुलने पर वे दृश्य नहीं रहते वैसे ही ज्ञान होने पर संसार विलीन हो जाता है":—

जैसे स्वप्ने सोइ देखियैं तैसे यह संसारि ।
जात बिलैहै छनकमात्र में उघरत नैन किंवारि ॥

—सूरसागर, पृ० ४७, पद ३१

रैदास स्रष्टा और सृष्टि में 'बाजीगर और बाजी' का सा सबंध बतलाते हुए कहते हैं: 'बाजी झूठी है, परन्तु बाजीगर सत्य है—'

1. ड्यूसेन : सिस्टम आफ वेदान्त, पृ० ३७३–२७५

"बाजी झूठ साँच बाजीगर।"

—रैदास बानी, पृ० ७, पं० ४

जैसे नट अनेक बाजी दिखाता हुआ भी बाजी के अनेक रूपों में परिवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया-शक्ति से जगत् के नाना रूपों को प्रकट करता हुआ भी अद्वैत ही रहता है—

"जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपु न होइ न सोइ॥"

—रामचरितमानस, पृ० १०४६

तथा

"भाई रे बाजीगर नट खेला। ऐसे आपै रहै अकेला॥

—दादूबानी भाग २, पृ० १३०, पं० ४

तुलसीदास ब्रह्मरूप से जगत् की प्रतीति न होने का कारण अज्ञान मानते हैं। जैसे आँख पर अँगुली लगाकर देखने वाले को दो चन्द्र दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी को ब्रह्म में अनेकता भासित होती है—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
० ० ० ० ०
चितव जो लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये।

—रामचरितमानस, पृ० ११८

परिणामवाद और विवर्तवाद, दोनों सिद्धान्त ब्रह्म को कारण मानते हुए एक ही बिन्दु पर मिलते हैं। उनका अन्तर ब्रह्मविषयक नहीं है, जगत्‌विषयक है। एक (परिणामवाद) जगत् को सत्य मानता है, दूसरा (विवर्तवाद) असत्य मानता है, परन्तु परिणामवाद भी जगत् को नाम-रूप के आधार पर सत्य नहीं मानता; सत्य मानता है वह उसे उसके उपादान के आधार पर। दोनों सिद्धान्तों में ब्रह्म को सत्य माना गया है। इसी भाव पर हमारे कवियों का ध्यान रहा है। वे जगत् के संबंध में इतने सतर्क नहीं दीख पड़ते जितने ब्रह्म के विषय में। यही कारण है कि वे दोनों सिद्धान्तों के बीच में विचरते से जान पड़ते हैं।

इस नामरूपात्मक जगत् की प्रतीति अज्ञान के कारण होती है। अज्ञान के मूल की खोज दार्शनिकों ने माया में की है जो सत्य को भी छिपा लेती है। शंकराचार्य से

माया

पूर्व के ग्रंथों में भी माया का उल्लेख आता है, किन्तु शंकर ने उसका प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। उन्होंने जगत् की प्रतीयमानता का मूल माया में खोज निकाला है। हिन्दी कवियों ने 'माया' शब्द का प्रयोग उदारतापूर्वक अविरल अर्थ में किया है। तुलसीदास 'माया को राम की दासी' कहते हैं—

'सो दासी रघुवीर कै'

—रामचरितमानस, पृ० १०४५

कबीर उसे 'रघुनाथ की' कहकर उनकी शक्ति की ओर संकेत करते हैं—

'तू माया रघुनाथ की'

अध्यात्मरामायण में भी माया को राम की शक्ति कहा गया है।[1] तुलसीदास ने माया के दो भेद, विद्या और अविद्या, माने हैं—

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥

—रामचरितमानस, पृ० ६६७

विक्षेप और आवरण उसके दो कार्य हैं। एक कार्य सर्जनात्मक है दूसरा भ्रमात्मक। वस्तु दृष्टि से उसमें सृजन-शक्ति है, किन्तु आत्मदृष्टि से वह मिथ्या है। अविद्यारूप में माया आवरण करती है और असत्य द्वारा सत्य को छिपाती है। वह अत्यन्त दुष्ट और दुःखरूप है। वशीभूत होकर जीव भवकूप में पड़ा रहता है। विद्या माया की विक्षेप-शक्ति है। उसका गुणों पर अधिकार है। वही जगत् की रचना करती है। वह प्रभु की प्रेरणा से काम करती है, क्योंकि उसमें स्वबल नहीं है—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥[2]

—रामचरितमानस, पृ० ६६७

मैं-मेरा, तू-तेरा यह सब माया है। जहाँ तक मन और इन्द्रियों की पहुँच है, उस सबको माया की परिधि समझिये—

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।

—रामचरितमानस, पृ० ६६७

तुलसीदास संसार को माया-संभव कहते हैं—

'मम माया संभव परिवारा।'[3]

—रामचरितमानस, पृ० १०५६

१. 'त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते',

अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ३.२०

२. तुलना कीजिये, अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ४.२२-२४

३. तुलना कीजिये, अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ३.२१

केशवदास संसार को माया ही का दूसरा नाम बतलाते हैं। वह अज्ञानजन्य है, उसकी सब कथा स्वप्निल है—

'संसृति नाम कहावति माया।
जानहु ताकहँ मोह की जाया।
× × ×
स्वप्न समान कथा सब ताकी।'[1]

—विज्ञान गीता (केशव पंचरत्न), पृ० १६०

त्रिगुणात्मिका होने से वह त्रिगुण क्षेत्र में ही कार्य करती है—

"माया को त्रिगुणातम जानो।
सत रज तम ताको गुण मानो।"[2] —[स]ूरसागर, ४.१४

वही पंचतत्त्व की भी जननी है।[3] वह बड़ी विषम और अज्ञेय है।[4]

स्वयं ब्रह्माश्रित होते हुए भी माया जगत् का कारण है। इस प्रकार उसे दासता और स्वामिता दोनों प्राप्त हैं : दासता परमात्मा की तथा स्वामिता जीवों की—

'माया बस्य जीव अभिमानी।
ईस बस्य माया गुनखानी।' —रामचरितमानस, पृ० १०५२

जीव और ब्रह्म के बीच में अन्तर डालने वाली माया ही है। जब ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान-अन्धकार विनष्ट हो जाता है, तब माया भी विलीन हो जाती है और जीव मिथ्या बन्धन से मुक्त हो जाता है:—

आतम अनुभव सुख सु प्रकासा।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा।[5] —रामचरितमानस, पृ० ११००

कर्म-सिद्धान्त

क्या हम कष्टों से व्याकुल नहीं होते ? क्या हम दुःख से बचना नहीं चाहते ? अवश्य, हम व्याकुल होकर उनसे बचना चाहते हैं, किन्तु उनसे बचें कैसे ? कब तक कर्मजाल में हम फंसे रहेंगे, हमें दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती ? विश्व में कर्म ही प्रधान माना गया है। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है:—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।[6] —रामचरितमानस, पृ० ५५५

---

१. तुलना कीजिये, अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ३.२२-२५
२. तुलना कीजिये, गीता, १४.१५
३. देखिये, रैदासबानी, पृ० ४०, पं० १८ :
तुलना कीजिये, अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ३. २२-२५
४. कबीर-ग्रंथावली, १६३. १६२
तुलना कीजिये, गीता ७.४२ : "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
५. तुलना कीजिए, गीता ५.१६
६. तुलना कीजिए, गीता ५.१६ : अवश्यमेव भोक्तव्यं" ....आदि
तुलना कीजिए, छांदोग्य उपनिषद् ३.१४.१

सुख-दुःख कहीं बाहर से नहीं आते, वे हमारे कर्मों से ही बनते हैं—

(क) 'जैसे कर्म लहो फल तैसे ।'

—सूरसागर, पृ० २६२७

(ख) काहु न कोउ सुख दुख कर दाता ।
निज कृत करम भोग सब भ्राता ।

—रामचरितमानस, पृ० ४३२

अपने कर्मों को अच्छा मानकर हम उन्हीं मे फँसते चले जाते हैं—

'अपन करम बर मानिकै, आपु बँधेउ सब कोइ ।'[१]

—तुलसी सतसई, ६.५८२

कर्म बन्धन की रज्जु है ।[२] जन्म-जन्मान्तरो मे भी उनसे पीछा नहीं छूट पाता । पुनर्जन्म हमारे कर्मों का ही फल है ।[३] हम कठपुतली के समान कर्म के हाथो मे नाचते रहते है ।[४] सुख-दुःख कायिक (Physical) अनुभूतियाँ हैं, आत्मा उनसे मुक्त है ।[५] कर्म की कीच अज्ञान के मार्ग मे पडती है । वह केवल जड देह को, जिसका जीव से संबध है, लिप्त कर सकती है । शुद्ध, बुद्ध, चित्स्वरूप आत्मा कर्मो (शुभाशुभ, दोनो) से बाधित नही होता । कर्म हमारे हाथ मे होते हुए भी, उनके फल पर हमारा अधिकार नहीं है ।[६] अज्ञान का निवारण होने पर कर्म-बन्धन नष्ट हो जाता है और जीव अपने शुद्ध आनंद-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । यही परमावस्था है, यही मुक्ति है । स्वरूप ज्ञान होने पर फिर कर्म नही बनते ।[७]

---

१. सूरसागर, पृ० ४०, पं० ७.८

जन्म जन्म बहु कर्म किये है, तिनमे आप बधायो ।

तुलना कीजिए—मैत्रायणी उपनिषद्, ३.२

२. प्राणसगली, पृ० २०६ पं० ३ : 'कर्म बंधन की जेवरी'

तुलना कीजिए, विष्णु पुराण, ६ ७.१६

३. सूरसागर, पृ० ६६, पद ४ :

'जिय करि कर्म जन्म बहु पावै फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै ।

तुलना कीजिए, अध्यात्म रामायण, युद्ध काड, ३.२२

४. रहीम : ज्यों नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात ।

५. देखिए, सूरसागर, पृ० ६६, पद ४ : हर्ष शोक तनु को व्यवहार ।
जैसो करे सो तैसो लहै ।
सदा आतमा न्यारो रहै ।

६. रामचरितमानस, पृ० ४२० :

'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईसु देइ फल हृदय विचारी ।

तुलना कीजिए, गीता : कर्मण्येवाधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन ।

७. रामचरितमानस, पृ० १०६१ :

" कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे"

तुलना कीजिये, गीता, ४.३७

आत्मा के आनंदमय रूप की अनुभूति, जो अज्ञानजन्य दुःख-सुख की कल्पना के कारण असंभव बनी हुई है, मुक्ति (मोक्ष) कहलाती है।[1] ज्ञान द्वारा अज्ञान का विनाश होने पर आत्मा अपने शुद्ध आनन्द-स्वरूप को प्रकट करता है।[2] जब तक मन में विकार रहते हैं तब तब संसार से छुटकारा नहीं मिलता—

मोक्ष

जब लगि मनहिं विकारा। तब लगि नहिं छूटै संसारा।[3]

—कबीर-ग्रंथावली, १७८.२६३

ज्ञान के प्रकाश से मोह-तम के मिट जाने पर ही आत्मा का अद्वय रूप प्रकट होता है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या मांहिं।[5]

—कबीर-ग्रंथावली: १५.३५

अत: आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) ही को मोक्ष कहते हैं।[4]

मुक्ति वह अवस्था है जिसमें जगत् का वस्तु-रूप आत्म-रूप में दीख पड़ता है—

जब थैं आतम तत्त विचारा

× × ×

व्यापक ब्रह्म सबनि में ऐकै, को पंडित को जोगी।

× × ×

इनमें आप आप सबहिन में, आप आप सूं खेलै।"

—कबीर-ग्रंथावली १५०.१८६

---

१. देखिये, रामचरितमानस, उत्तर कांड :
आतम अनुभव सुख सु प्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।
तुलना कीजिये, कठोपनिषद, २.३.१५
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।

२. देखिये, बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.६.२८ : 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'

३. तुलना कीजिये, योगवासिष्ठ मुमुक्षव्यवहार प्रकरण, २.५

४. तुलना कीजिये, मुंडकोपनिषत्, ३.८

५. जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई। रामचरितमानस, पृ० ४६४
तुलना कीजिये, 'स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,
—मुंडकोपनिषत् : ३.६

६. तुलना कीजिये, ज्ञाते द्वैतं न विद्यते, उद्धरण, इंडियन फिलासफी (रा० कृ०) पृ० ६३७

वास्तव में मुक्ति वस्तुपरक परिवर्तन नहीं है। यहाँ सब इन्द्रियजन्य स्वपर-भेद विलीन हो जाता है। देश-काल से, जन्म-मरण,सुख-दुख आदि से अवकाश मिल जाता है और औपाधिक मल मिट जाते हैं।

"मम सो रूप जो सब घट जान।
मग्न रहै तजि उद्यम आन॥
अरु सुख दुख कछु मन नहिं लावै।
माता सो नर मुक्त कहावै॥"[1] —सूरसागर, पृ० ५२३.१२

इसी प्रकार—

आपा पर सम चीनिये तब मिलै आतम राम।

सगुण भक्तों ने मुक्ति के चार भेद[2] (सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य) माने हैं। उनमें श्रेणी-भेद है। भक्ति-गुणों के अनुरूप ही इनकी प्राप्ति होती है।[3] निर्गुण कवियो ने इन भेदो को स्वीकार नहीं किया, पर जीवन्मुक्ति में सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार के कवियो की आस्था दीख पड़ती है।

जीवन्मुक्त वह है जो जीवित ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सुख-दुःख के कारण अहंकार से छूट जाता है। भेद-दृष्टि मिट जाती है और सर्वात्मभाव आ जाता है। वह आसक्ति-हीन होकर निर्हेतुक कर्म करता है। केवल निर्हेतुक कर्मों का ही मुक्ति से सामंजस्य हो सकता है। सासक्ति कर्मों मे 'द्वित्व' की स्थिति आसक्ति के रहते हुए असम्भव है। जीवन्मुक्त कर्म-परिधि से बाहर रहता है।[4] इस मुक्ति की प्राप्ति सन्तसमागम, समता, सन्तोष और विचार के बिना नहीं हो सकती—

मुक्ति पुरी दरद्वार के चार चतुर प्रतिहार।
साधुन को सत्संग, सम अरु सन्तोष विचार॥ —रामचन्द्रिका, २५.६

बन्धन और मुक्ति मन की अवस्था हैं।[5] जब मन वासनामुक्त हो जाता है तभी मुक्ति से भेंट हो जाती है।

---

१. तुलना कीजिये, "स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मत्वमेवम्"
शांडिल्यभक्ति, तै० उप० ३.१

२. देखिये सूरसागर, पृ० ६६३
तुलना कीजिये, अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड ७.६६

३. देखिये, शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, ३.४.५२

४. विज्ञानगीता, केशव पंचरत्न. पृ०२३८ तथा दादूबानी, पृ० ११४, प० १८.२१
तुलना कीजिये, योगवासिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण, २.८

५. देखिये, विज्ञानगीता, केशवपंचरत्न, पृ० ३४८
मन ही दीन्हीं गाठि प्रभु मन ही पै छुर भाउ।
तुलना कीजिये, गीता :
'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'